भा० दि० जैन संघ पुस्तकमालाका तीसरा पुष्प

स्व० पं० दौलतराम-विरचित

छहढाला

साहित्य विभाग
भा० दि० जैन संघ

भा० दि० जैन संघ पुस्तकमालाका तीसरा पुष्प

स्व० पं० दौलतराम-विरचित

छहढाला

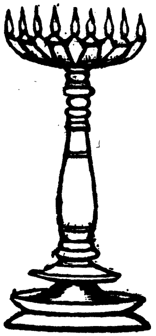

टीकाकार-

पं० हीरालाल न्यायतीर्थ

प्रकाशक-
मंत्री साहित्य विभाग
भा० दि० जैन संघ,
चौरासी, मथुरा।

प्रथमबार १०००
चैत्र वीर सं० २४७५
मूल्य दो रुपये

मुद्रक-
अजितकुमार जैन शास्त्री
अकलंक प्रेस,
सदर बाजार, देहली।

वक्तव्य

प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओंमें जैन लेखकोंने जिस प्रकार गद्य-पद्य रूपमें सुन्दर रचनाएँ की हैं, उसी प्रकार हिन्दी भाषामें भी जैन-विद्वानोंके बनाये हुए अनेक सुन्दर ग्रन्थ उपलब्ध हैं। स्व० पं० बनारसीदासजीका नाटक 'समयसार' पं० भूधर-दासजीका 'पार्श्वपुराण' आदि ग्रन्थ हिन्दी साहित्यमें अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जैन ग्रन्थकारोंने शृङ्गारकी अपेक्षा शान्त वैराग्यरसको अधिक अपनाया है तथा अन्य विषय-विवेचनकी अपेक्षा जैन-सिद्धान्तके प्रतिपादनको विशेषता दी है। इसी परम्पराका अनुकरण विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणवर्ती स्व० पं० दौलतरामजीने भी किया है।

श्री पं० दौलतरामजी अलीगढ़के समीप सासनीके रहनेवाले थे, पीछे वे अलीगढ़में रहने लगे थे। वे पल्लीवाल जातिके नर-रत्न थे। उन्होंने परमार्थ जकड़ीं, फुटकर अनेक पद तथा प्रस्तुत ग्रन्थ छहढालाका निर्माण किया है। उन्होंने अपनी कवितामें सरल ललित शब्दों द्वारा सागरको गागरमें भरनेका प्रयत्न किया है। जहां उनके शब्द रुचिर हैं वहां उनका भाव उनसे भी अधिक उल्लास देनेवाला है। उनके बनाये हुए पदोंका भाव मनन करते हुए हृदयमें शान्ति और आनंदकी हिलोरें आने लगती हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ छहढाला भी जिसका कि वास्तविक नाम 'तत्व-उपदेश' है, एक सुन्दर रचना है। इसमें भी कविने अपनी सहज चातुरीसे जैनसिद्धान्तका आध्यात्मिक सार भर दिया है जो कि जैनसिद्धान्तके जिज्ञासुओंके लिये बहुत उपयोगी है। इस ग्रन्थकी काया ६ प्रकारके विभिन्न छन्दोंमें सम्पन्न हुई है, अतएव इसका नाम भी पं० बुधजन कृत छहढालाके नामानुसार 'छहढाला' रूढ़ हो गया है। (ढाल=छन्द उच्चारणकी चाल, छह+ढाल=छहढाला)

इस ग्रन्थका निर्माण वि० सं० १८६१में हुआ है। इस प्रकार ब्रज-भाषाकी अन्तिम रचनाओंमें छहढाला भी समझना चाहिये। इसकी उपयोगिता अनुभव करके इसको प्रायः सभी जैन-पाठशालाओं और जैन-परीक्षालयोंके पठनक्रममें स्थान दिया गया है। श्रीमान् पं० जिनदासजी न्यायतीर्थ सोलापुरने मराठी-भाषामें इसका छन्दोबद्ध अनुवाद किया है।

इस छहढालाकी भाषा-टीका सबसे पहले स्व० श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलाप्रसादजीने की थी, जो कि अनेक बार छप चुकी है। फिर पं० सुमेरचन्द्रजी न्यायतीर्थ 'उन्निनीषु' देहली, पं० भुवनेन्द्रजी 'विश्व' जबलपुर तथा पं० मोहनलालजी शास्त्री, मलहराने भी आवश्यक सुधारके साथ विद्यार्थियोंके लिये अधिक उपयोगी बनानेकी दृष्टिसे भाषा-टीका की है। किन्तु ये स्वाध्याय-प्रेमियोंके लिये उतनी उपयोगी नहीं है। इस कमीको पूरा करनेके लिये श्री पं० हीरालालजी न्यायतीर्थने प्रस्तुत टीका की है। यह टीका प्रायः ३००० श्लोक प्रमाण है। पं० हीरालालजीने धवलाके भाषानुवादमें पर्याप्त भाग लिया है। उस समय आपको अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थोंके अवलोकनका अवसर मिला है। उस परिज्ञानका कुछ उपयोग पंडितजीने छहढालाकी इस टीकामें भी किया है। स्थान-स्थान पर अपने शब्दोंकी पुष्टिके लिये टिप्पणीमें तिलोयपण्णत्ति, लाटीसंहिता आदि प्राचीन ग्रन्थोंके उद्धरण दिये हैं, इससे स्वाध्याय करनेवालोंके लिये यह टीका और भी उपयोगी हो गई है।

'मध्यम अन्तर आतम हैं जे देशव्रती' आगारी' (अनगारी)' की द्विविध समस्याका हल प्राचीन ग्रन्थोंकी साक्षीपूर्वक किया है।

अजितकुमार जैन शास्त्री

अकलंक प्रेस,

सदर बाजार, देहली।

❀ नमः सिद्धेभ्यः ❀

श्री पं० दौलतराम विरचित

छहढाला

प्रथम ढाल

सोरठा—

तीन भुवनमें सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुं त्रियोग सम्हारिकैं ॥१॥

अर्थ—तीनों लोकोंमें वीतराग-विज्ञानता ही सार है, वही शिव स्वरूप है और शिवको करने वाली भी है, ऐसी उस वीतरागविज्ञानताको मन, वचन और काय ये तीनों योग संभाल करके नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ—यद्यपि प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपकी अपेक्षा सारयुक्त ही है, तथापि यहां 'सार' पदसे अभिप्राय उस प्रयोजनभूत पदार्थसे है, जो संसारके राग-द्वेषरूपी भयंकर दावानलमें निरन्तर जलते और असह्य यातनाओंको सहते हुए प्राणियोंके

उद्धार करनेमें समर्थ है। प्राणियोंकी राग-द्वेषमयी बुद्धि ही उन्हें मृग-तृष्णाकी भांति कभी किसी वस्तुमें सुखका भान कराती है और कभी किसी वस्तुमें। पर यथार्थमें कोई भी वस्तु सुख या दुःखके देनेमें समर्थ नहीं है। इस प्रकारके राग-द्वेष-रहित ज्ञानको वीतराग-ज्ञान कहते हैं। यह वीतराग-ज्ञान दो प्रकारका है—एक छद्मस्थ वीतराग-ज्ञान और दूसरा केवलि वीतराग-ज्ञान। यहां पर वीतराग-विज्ञानतासे अभिप्राय केवलि वीतराग-ज्ञानसे है। यह ज्ञान चार घातिया कर्मोंके नाश होने, और अरहंत अवस्था प्रकट होने पर उत्पन्न होता है। जीवके एक बार इसकी प्राप्ति हो जाने पर अनन्त काल तक यह स्थायी बना रहता है, इसीलिए इसको 'सार' कहा है। 'शिव' नाम 'आनन्द' या 'मोक्ष' का है। यह वीतराग-विज्ञानता आनन्दस्वरूप है, क्योंकि, केवल ज्ञानके उत्पन्न होते ही आत्मामें अनन्त सुख भी प्रगट हो जाता है और यह 'शिवकार' भी है, क्योंकि अरहंत अवस्थाके पश्चात् नियमसे 'शिव' (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। इस प्रकार तीनों लोकोंमें सर्वोत्कृष्ट एवं सारभूत केवल ज्ञानको ग्रन्थकारने मन, वचन और कायको शुद्ध करके नमस्कार किया है।

ग्रन्थकार ग्रन्थ-रचनाका उद्देश्य बतलाते हुए संसारके अनन्त प्राणियोंकी हार्दिक इच्छाको व्यक्त करते हैं :—

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहें दुखतें भयवन्त।
तातें दुखहारी सुखकार, कहें सीख गुरु करुणाधार ॥२॥

अर्थ—तीनों लोकोंमें जितने अनन्त जीव हैं, वे सब सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं। इसलिए श्री परम गुरुदेव करुणा-भाव धारण करके दुःखको हरनेवाली और सुखको करनेवाली उत्तम शिक्षाको देते हैं।

विशेषार्थ—संसारका प्रत्येक प्राणी सुखको चाहता है, और दुखसे दूर भागता है, इसका कारण यह है कि यथार्थमें सुख आत्माका स्वभाव है और प्रतिक्षण प्रत्येक प्राणीको उसका अंतरंगमें अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे आभास होता रहता है। किन्तु जब उसका उपयोग बाहरी पदार्थोंकी ओर होता है और उन्हें वह अपने अनुकूल नहीं पाता है, प्रत्युत विपरीत परिणमन करते हुए देखता है, तथा प्रयत्न करने पर भी अनुकूल नहीं कर पाता है, तब वह उन्हें दुःखदायक मानकर उनसे भयभीत रहने लगता है और अपने भीतर असामर्थ्यका अनुभव करने के साथ-साथ अपनेको दुखी मानने लगता है। इसी मिथ्या-भ्रान्तिको दूर करनेके लिए प्राणिमात्रके अकारण परम-हितैषी परम-गुरुदेव अनुकम्पा-भावसे प्रेरित होकर परम-शान्तिको पानेके लिए सन्मार्ग दिखानेवाली उत्तम शिक्षाको—सदुपदेशको—देते हैं।

अब ग्रन्थकार गुरुकी शिक्षाको सुननेका आदेश देते हुए जीवको संसार-परिभ्रमणका कारण बतलाते हैं:—

ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्यान।
मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि ॥३॥

अर्थ—ग्रन्थकार भव्य जीवोंको संबोधन करते हुए कहते हैं—कि हे भव्य जीवो ! यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो, तो उस दुःखहारी और सुखकारी शिक्षाको मन स्थिर करके सुनो। इस जीवने अनादि कालसे मोह-रूपी महामदको पिया है जिसके कारण यह अपने आपको भूल रहा है और मोह-मदिरासे उन्मत्त होकर व्यर्थ इधर-उधर संसारमें परिभ्रमण कर रहा है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—यद्यपि जीव स्वभावसे अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुखका भंडार है किन्तु अनादि कालसे ही यह राग-द्वेष रूप मोह-मदिराके पान करनेसे अपने स्वरूपको भूला हुआ है, मैं कौन हूं, मेरा क्या स्वरूप है, मुझे क्या प्राप्त करना है और कौनसा मार्ग मेरे लिए हितकर एवं सुखदायक है, इसका इसे भान तक भी नहीं है। यही कारण है कि यह इस चतुर्गतिरूप संसारमें चक्कर लगा रहा है और निरन्तर संक्लेशका अनुभव करता हुआ दुःख उठा रहा है। उसे संबोधन करके ग्रन्थकार या श्री परम गुरुदेव कहते हैं कि हे भव्य ! यदि तू अपना कल्याण चाहता है, सुख पानेकी मनमें अभिलाषा है और दुःखसे बचना चाहता है, तो अपना मन स्थिर करके उस शिक्षाको सुन, जिसे परम गुरु तेरे ऊपर अनुकम्पा धारण करके तुझे सुना रहे हैं।

ग्रन्थकार अपने ग्रन्थकी प्रामाणिकताका उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम निगोदके दुःखका वर्णन करते हैं :—

तास भ्रमणकी है बहु कथा, पै कछु कहूं कही मुनि यथा।
काल अनन्त निगोद मझार, बीत्यौ एकेन्द्री तन धार* ॥४॥

अर्थ—इस जीवके संसारमें परिभ्रमण करनेकी बहुत बड़ी कहानी है, परन्तु मैं (ग्रन्थकार—दौलतराम) उसे संक्षेपमें कुछ कहता हूं जैसे कि हमारे श्री परम गुरु मुनिराजोंने कही है। इस जीवने अनन्त काल तो निगोदके भीतर एकेन्द्रिय शरीरको धारण कर बिताया है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार जीवके संसार-परिभ्रमणकी कहानी प्रारंभ करते हुए कहते हैं—कि सबसे अधिक काल तो यह जीव निगोदके भीतर रहा।

शंका—निगोद किसे कहते हैं ?

समाधान—तिर्यंच गतिमें पांच प्रकारके जीव होते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनमें एकेन्द्रिय जीव भी पांच प्रकारके होते हैं। पृथ्वी-कायिक, जल-कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं—प्रत्येक शरीर वनस्पति० और साधारण शरीर वनस्पति०। इनमें साधारण शरीर वनस्पति-कायिक जीवोंको निगोद कहते हैं।

शंका—साधारण शरीर वनस्पतिकायिक किसे कहते हैं ?

---

* जीवो अणंतकालं वसइ णिगोएसु आइ रिहीणो ॥२८४ स्वामिका०॥

समाधान—साधारण शरीर नामकर्मके उदयसे जिन अनन्त प्राणियोंको एक साधारण अर्थात सामान्य शरीर मिलता है उन्हें साधारण शरीर वनस्पतिकायिक कहते हैं। इस एक शरीरमें रहनेवाले अनन्ते जीवोंका एक साथ ही आहार होता है, एक साथ ही सब श्वास-उच्छ्वास लेते हैं, एक साथ ही वे उत्पन्न होते हैं और एक साथ ही मरणको प्राप्त होते हैं।

इस साधारण शरीर वनस्पतिको ही निगोद कहते हैं और उसमें रहनेवाले जीवोंको निगोदिया जीव कहते हैं। ये अनन्त निगोदिया जीव जिस एक साधारण शरीरमें रहते हैं, वह शरीर इतना छोटा होता है कि हमारी आंखोंसे दिखाई नहीं पड़ता। श्वासके अठारहवें भागमें निगोदिया जीवोंके उत्पन्न होने और मरते रहने पर भी निगोद शरीर ज्यों-का-त्यों बना रहता है, उसकी उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोड़ा-कोड़ी सागर-प्रमाण है। जब तक यह स्थिति पूर्ण नहीं हो जाती है, तब तक इसी प्रकार उस शरीरमें प्रतिक्षण अनन्तानन्त जीव एक साथ ही उत्पन्न होते और मरते रहते हैं।

शंका—निगोद कहां है अर्थात् निगोदिया जीव कहां-कहां रहते हैं?

समाधान—निगोदिया जीव दो प्रकारके होते हैं—एक सूक्ष्म निगोदिया, दूसरे बादर निगोदिया। सूक्ष्म निगोदिया जीव तो सारे लोकाकाशमें ठसाठस भरे हुए हैं, ऐसा तिलमात्र भी कोई स्थान नहीं है, जहां अनन्त निगोदिया जीव न रहते

हों। पर बादर निगोदिया जीव पुद्गल आदि आधारका निमित्त पाकर निवास करते हैं।

शंका—बादर निगोदिया जीव पुद्गल आदि आधारका निमित्त पाकर निवास करते हैं, इसका क्या अभिप्राय है, स्पष्ट कीजिए ?

समाधान—किसी जीवके शरीर रूप परिणत हुए विशिष्ट पुद्गल और शरीराकार नहीं परिणत हुए सामान्य पुद्गल, इन दोनों प्रकारके पुद्गलोंके आश्रय या आधार पर बादर निगोदिया जीव रहते हैं।

शंका—तो क्या हर एक शरीरके आधार पर बादर निगोदिया जीव रहते हैं ?

समाधान—नहीं, किन्तु पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक जीवोंका शरीर, अरहंत केवलीका शरीर आहारक ऋद्धिधारी मुनिका आहारक शरीर, देवोंका शरीर और नारकियोंका शरीर इन आठ जातिके शरीरोंको छोड़कर शेष समस्त जीवोंके शरीरोंके आधार बादर निगोदिया जीव रहते हैं।

शंका—शास्त्रोंमें नित्यनिगोद और इतरनिगोद ये दो नाम और सुने जाते हैं, सो इनका क्या अर्थ है ?

समाधान—जो जीव अनादिकालसे निगोद पर्यायको धारण किये हैं अर्थात् जिन्होंने आज तक निगोदके सिवाय

त्रस आदिकी दूसरी पर्याय नहीं पाई, अथवा जिन्होंने कभी भी निगोदके सिवाय दूसरी पर्याय न तो पाई है और न आगे पावेंगे, उन्हें नित्यनिगोद कहते हैं। जो निगोदसे निकल कर त्रस आदि दूसरी पर्याय धारण कर फिर निगोदमें उत्पन्न होते हैं, उन्हें इतरनिगोद कहते हैं, इसीका दूसरा नाम चतुर्गतिनिगोद या अनित्यनिगोद भी है।

शंका—नित्यनिगोदके स्वरूपमें 'अथवा' कह कर दो प्रकार का लक्षण क्यों कहा?

समाधान—नित्यनिगोदमें दो प्रकारके जीव रहते हैं एक अत्यन्त भाव-कलंक-प्रचुर, दूसरे अल्प भाव-कलंक-प्रचुर। इनमें से अत्यन्त दुर्लेश्यारूप संक्लेश परिणामोंकी प्रचुरता-बहुलता वाले जीवोंने अनादि कालसे आज तक न तो निगोद पर्यायको छोड़ा है और न आगे अनन्त काल तक कभी भी छोड़ेंगे, किन्तु सदाकाल निगोदरूप पर्यायको ही धारण किये रहेंगे। किन्तु जो जीव अल्प-भाव-कलंक-प्रचुर होते हैं, उन्होंने यद्यपि आज तक निगोद पर्यायको नहीं छोड़ा है, किन्तु आगे जाकर और काललब्धिको पाकर वे निगोद-से निकलकर त्रस आदि की पर्यायको प्राप्त हो सकेंगे। ऐसे जीवोंको भी नित्यनिगोद कहा है।

प्रस्तुत प्रकरणमें ग्रन्थकार इस दूसरे प्रकारके नित्य निगोदको लक्ष्यमें रखकर ही अपना वर्णन कर रहे हैं, क्यों कि, आगेके छंद में वे "निकसि भूमि जल पावक भयो" इत्यादि वाक्य कह रहे हैं।

अब ग्रन्थकार निगोदके दुःखका वर्णन कर वहांसे निकलनेका क्रम बताते हैं :—

एक श्वासमें अठदस बार, जन्म्यो मर्यो भर्यो दुख भार ।
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो*॥५॥

अर्थ—निगोदिया जीव एक श्वासमें अठारह बार जन्म लेता है, मरण करता है और जन्म-मरण-जन्य दुःखके महान् भारको सहन करता है। भाग्यवशात् काललब्धि आने पर वह वहांसे निकल कर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिकी पर्यायोंको प्राप्त होता है॥ ५ ॥

विशेषार्थ—संसारमें मरणका दुःख ही सबसे बड़ा दुःख माना गया है जिन जीवोंको इतनी शीघ्रतासे मरण करना पड़ता है, उनके दुःखको सर्वज्ञके सिवाय और कौन जान सकता है। निगोदिया जीव जन्म-मरण-जन्य जिस भारी यातनाको सहन करते हैं, वह वचनातीत है। उनके दुःखकी कल्पना उस पुरुषसे की जा सकती है, जिसके हाथ-पैर रस्सीसे खूब कस कर बांध दिये जायं और आंख, नाक, कान, मुँह को कपड़ा आदि भर कर बिलकुल बंद कर दिया जाय, जिससे कि वह बोल न सके। फिर उसके गलेमें रस्सीका फंदा डाल कर किसी ऊंचे पेड़ आदि पर लटका दिया जाय और ऊपरसे बेंतोंसे खूब पीटा जाय, तो वह वेचारा न रो सकता है, न बोल

---

* तत्तो णीसरिऊणं पुढवीकायादिओ होदि ॥२८४ स्वामिका० ॥

सकता है और न इशारोंसे अपना दुःख ही किसीसे प्रगट कर पाता है, किन्तु भीतर-ही-भीतर असीम दुःखका अनुभव कर आकुल-व्याकुल हो छटपटाता रहता है, इसी प्रकारकी अव्यक्त वेदनाको एकेन्द्रिय निगोदिया जीव प्रतिक्षण सहा करते हैं। इस प्रकार दुःखोंको सहते-सहते भाग्योदयसे कोई जीव-निगोदसे बाहर निकल पाता है, जिस प्रकार कि भाड़में भुँजते हुए अनाजमेंसे कोई एक दाना भाड़से बाहर निकल कर आजाय। इस प्रकार बाहर निकले हुए जीव क्रमशः या अक्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिमें उत्पन्न होते हैं और उसमें असंख्यात काल तक रह कर जन्म-मरण आदिकी भारी वेदनाको भोगते हैं।

शंका—प्रत्येक वनस्पति किसे कहते हैं?

समाधान—जिस वनस्पतिरूप एक शरीरका स्वामी एक ही जीव होता है, उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं, जैसे आम, नीम, नारियल आदिके वृक्ष।

शंका—निगोदसे निकलनेका क्या क्रम है?

समाधान—साधारणतः निगोदसे निकलकर एकेंद्रिय जीवोंकी पृथ्वी, जल आदि पर्यायोंमें असंख्यात वर्षों तक परिभ्रमण कर, पुनः द्वीन्द्रियादि पर्यायोंमें भी असंख्यात वर्षों तक भ्रमण करनेके बाद पंचेन्द्रिय पर्यायोंको प्राप्त होता है। छहढाला-कारने इसी क्रमको सामने रख कर जीवके संसार-परिभ्रमणकी

कथा कही है। किन्तु शास्त्रोंमें इस क्रमके कुछ अपवाद भी मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि निगोदसे निकलकर जीव सीधा मनुष्य पर्याय भी प्राप्त कर सकता है, और उसी भवसे मोक्ष भी जा सकता है।

अब आगे ग्रन्थकार त्रस पर्याय पानेकी दुर्लभताको बतलाते हुए उसके दुःखोंका वर्णन करते हैं—

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणी, त्यों पर्याय लहि त्रसतणी* ।
लट पिपील अलि आदि शरीर, धरि धरि मर्यो सही बहु पीर ॥६

अर्थ—जिस प्रकार चिन्तामणि-रत्नका पाना अत्यंत दुर्लभ है, उसी प्रकार त्रसकी पर्यायका पाना भी अत्यन्त कठिन है। सो इस जीवने निगोद पर्यायमें अनन्त-काल बितानेके बाद अत्यन्त कठिनतासे त्रस पर्यायको प्राप्त किया, तथा लट, केंचुआ आदि द्वीन्द्रिय-पर्याय, पिपीलिका, (कीड़ी) मकोड़ा आदि त्रीन्द्रिय-पर्याय, और अलि (भौंरा) मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय पर्यायोंको बार-बार धारण कर मरा और बहुत दुःखोंको सहा।

भावार्थ—त्रस पर्यायकी असंख्यात कालप्रमाण कायस्थिति के पूरा होने तक यह जीव द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रियोंमें बार-बार जन्म-मरण किया करता है।

शंका—कायस्थिति किसे कहते हैं ?

---

* चिन्तामणिव्व दुलहं तसत्तणं लहदि कट्ठेण ॥२८५ स्वामिका०॥

समाधान—विवक्षित शरीरकी एक भव-सम्बन्धी आयुको भवस्थिति कहते हैं, तथा उसी विवक्षित शरीरकी नाना भव-सम्बन्धी स्थितिको कायस्थिति कहते हैं। जैसे द्वीन्द्रिय जीवोंकी एक भव-सम्बन्धी उत्कृष्ट आयु बारह वर्षकी है, यह भवस्थिति है। तथा कोई जीव द्वीन्द्रियकी एक पर्यायकी आयुको पूरा कर मरा और फिर द्वीन्द्रियोंमें उत्पन्न हुआ, पुनः मरा और फिर द्वीन्द्रियोंमें उत्पन्न हुआ, इस प्रकार लगातार एक ही कायके धारण करनेके कालको कायस्थिति कहते हैं। इस प्रकारकी द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रिय जीवोंकी कायस्थिति असंख्यात हजार वर्षकी है।

अब ग्रन्थकार पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके दुःखोंका वर्णन करते हैं:—

कबहूं पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशू हति खाये भूर* ॥७॥
कबहूं आप भयो बलहीन, सबलनिकरि खायो अतिदीन।
छेदन भेदन भूख प्यास, भार-बहन, हिम, आतप त्रास ॥८॥

---

* तत्तो णीसरिऊणं कहमवि पंचिन्दियो होदि ॥२८६॥
सोवि मणेण विहीणो णय अप्पाणं परंपि जाणेदि।
अह मणसहिओ होदिहु तहवि तिरिक्खो हवेरुद्दो ॥२८७॥
—स्वामिका०

बध बंधन आदिक दुख घने, कोटि जीभतैं जात न भने।
अतिसंक्लेश भावतैं मर्यो, घोर शुभ्र सागर में पर्यो* ॥९॥

अर्थ—विकलेन्द्रिय पर्यायोंसे निकलकर कभी यह जीव पंचेन्द्रिय पशु भी हुआ, तो मनके बिना बिलकुल अज्ञानी हुआ और यदि कभी सैनी भी हुआ, तो सिंह आदि क्रूर जीवोंमें उत्पन्न हुआ, जहां सैकड़ों निर्बलपशुओंको मारकर खागया ॥७॥

कभी यह जीव स्वयं निर्बल हुआ तो, बलवान् जीवोंके द्वारा अत्यन्त दीनतापूर्वक खाया गया। छेदा जाना, भेदा जाना भूख, प्यास, बोझा ढोना, ठंड, गर्मीका सहना, वध, बंधनको प्राप्त होना इत्यादि असंख्य दुःखोंको यह जीव तिर्यंचयोनिमें सहता है जो कि करोड़ों जिह्वाओंके द्वारा भी नहीं कहे जा सकते हैं। इन नाना प्रकारके दुःखोंको भोगते हुए यह जीव जब अत्यन्त संक्लेश भावसे मरता है तो घोर नरक-रूपी समुद्रमें जा गिरता है ॥८, ९॥

विशेषार्थ—पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव दो प्रकारके होते हैं—एक सैनी, दूसरे असैनी। जिनके मन होता है, उन्हें सैनी कहते हैं, सैनीके दूसरे नाम संज्ञी और समनस्क भी हैं। जिनके मन नहीं होता है, उन्हें असैनी, असंज्ञी या अमनस्क कहते हैं। ये

---

* सो तिव्वअसुहलेसो णरये णिवडेइ दुक्खदे भीमे।
तत्थवि दुक्खं भुंजदि सारीरं माणसं पउरं ॥२८८॥
—स्वामिका०

दोनों ही प्रकारके जीव गर्भजभी होते हैं, और सम्मूर्च्छिम। जिन जीवोंका शरीर माता-पिताके रज और वीर्यके संयोगसे बनता है उन्हें गर्भज कहते हैं, जैसे गाय, भैंस, चील, कबूतर इत्यादि।

किन्तु जिन जीवोंका शरीर माता-पिताके रज और वीर्यकी अपेक्षाके बिना इधर-उधरके परमाणुओंके मिल जानेसे उत्पन्न होता है उन्हें सम्मूर्च्छिम कहते हैं, जैसे मछली वगैरह। उक्त दोनों ही प्रकारके संज्ञी और असंज्ञी जीव जलचर-थलचर और नभचरके भेदसे तीन-तीन प्रकारके होते हैं। इन सर्व प्रकार के पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें जो क्रूर स्वभाववाले और बलवान् होते हैं, वे अपनेसे छोटे जीवोंको निर्दयतापूर्वक मारकर खाजाते हैं। औरकी तो बात ही क्या है, इस तिर्यंच योनिमें भूखी माता भी अपने बच्चोंको खा जाती है। इसके अतिरिक्त आकाशमें निर्द्वन्द्व विहार करनेवाले पक्षी, तथा वनमें स्वच्छन्द विचरनेवाले वन्य पशु शिकारियों द्वारा अकालमें ही कालके गालमें जा पहुँचते हैं। वर्तमानके कसाईखानोंमें असंख्य मूक प्राणी प्रतिदिन तलवारके घाट उतारे जाते हैं, तथा उत्पन्न होनेके पूर्व ही अंडेकी अवस्थामें असंख्य प्राणी समूचे रूपमें खालिये जाते हैं। भूख-प्यासके दुःख, बोझा ढोनेके दुःख, वधिया (नपुंसक) करनेके महान् दुःख, सर्दी, गर्मीके सहनेके दुःख तो सर्व जगत्के प्रत्यक्ष ही हैं। अभी तक तो मांसभक्षियोंके लिए पशु मारे जाते थे, परन्तु अबतो कोमल चमड़ा प्राप्त करनेके लिए गर्भ धारण करनेवाले पशु अत्यन्त निर्दयतापूर्वक मारे जाते

हैं। कहनेका सारांश यह है कि इस प्रकार असंख्य दुःखोंको यह जीव तिर्यंचगतिमें भोगता है, जिन्हें यदि करोड़ों व्यक्ति भी एक साथ कहनेको बैठें तो सहस्रों वर्षों तक नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार जब यह जीव संक्लेशपूर्वक मरता है तो नरकगतिमें जाकर उत्पन्न होता है।

इस प्रकार तिर्यंचगतिके दुःखोंका वर्णन समाप्त हुआ।

अब ग्रन्थकार आगे नरकगतिके दुःखोंका वर्णन करते हैं:—

तहां भूमि परसत दुख इसो, बीछू सहस डसें नहिं तिसो।
तहां राध शोणित वाहिनी, कृमि-कुल-कलित, देह-दाहिनी॥१०
सेमर तरु जुत दल असिपत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र।
मेरुसमान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय॥११॥
तिल-तिल करैं देहके खंड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचंड।
सिन्धु नीरतें प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय॥१२
तीन लोकको नाज जो खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय।
ये दुख बहु सागर लों सहै, करम जोगतैं नरगति लहै॥१३॥

अर्थ—उन नरकोंकी भूमिको छूनेसे ऐसा दुःख होता है कि वैसा दुख हजारों बिच्छुओंके एक साथ काटनेसे भी नहीं हो सकता। वहांपर पीव और खूनसे भरी हुई, कीड़ोंके समूहसे युक्त और शरीरको जलानेवाली नदी बहती है। वहांके वृक्ष सेमरके वृक्षके समान लम्बे और तलवारकी धारके समान तेज

धारवाले पत्तोंसे युक्त होते हैं। जब कोई नारकी छाया पानेकी इच्छासे उनके नीचे पहुंचता है तो उन वृक्षोंके पत्ते ऊपरसे गिर-कर तलवारके समान उन नारकियोंके शरीरको विदीर्ण कर डालते हैं। उन नरकोंमें इतनी अधिक शीत-उष्णकी वेदना है कि यदि मेरु पर्वतके समान एक लाख योजनका लोहेका गोला वहां डाला जाय तो क्षणमात्रमें गल जाय। वहां नारकी आपसमें एक दूसरेसे तिल-तिल प्रमाण शरीरके खंड कर डालते हैं, और ऊपरसे दुष्ट एवं प्रचंड स्वभाववाले असुर उन्हें आपसमें भिड़ाते हैं। वहां प्यासकी वेदना इतनी अधिक है कि यदि समुद्र-भर भी पानी पीनेको मिल जाय तो भी प्यास न बुझे, पर पीनेको एक बूंदभी पानी नहीं मिलता है। वहां भूखकी वेदना इतनी अधिक है कि यदि तीनों लोकोंका समस्त अन्न भी खानेको मिल जाय, तो भी भूख न मिटे, परन्तु एक दाना भी खानेको नहीं मिलता है। ये दुःख और इसी प्रकारके अन्य अनेकों दुःख यह जीव कई सागरों तक सहता है, तब कहीं जाकर यह जीव कर्म-योगसे मनुष्यगति पाता है ॥ १०—१३ ॥

विशेषार्थ—इस पृथिवीके नीचे सात नरक हैं, उनमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको नारकी कहते हैं। इन नारकी जीवोंका शरीर वैक्रियिक होता है, इसलिए वह एक अन्तर्मुहूर्त्तमें ही पूर्णावयव हो जाता है। इन नारकियोंके जन्मस्थान नरक-बिलोंके ऊपर होते हैं। जन्मस्थानोंके आकार कुम्भी, मुग्दर, मृदंग, भस्मा (धोंकनी) टोकनी आदिके समान अशुभ और भयानक

है*। इन जन्मस्थानोंका भीतरी भाग करोंतके समान तीक्ष्ण, वज्रमयी एवं भयंकर है*। सब जन्मस्थानोंके मुख नीचेकी ओर हैं, जिससे नारकी उत्पन्न होनेके साथ ही नीचे बिलोंमें जाकर गिरते हैं। उन नरक-बिलोंमें कुत्ता, बिल्ली, ऊंट आदिके सड़े-गले शरीरोंकी दुर्गन्धकी अपेक्षा अनन्तगुणी अधिक दुर्गन्ध है* और वहांकी भूमि अत्यन्त जहरीली है कि उसे छूनेमात्रसे हजारों बिच्छुओंके एक साथ काटनेसे भी अधिक वेदना होती है। नारकी जीव उत्पन्न होकर नीचे छत्तीस आयुधोंके बीचमें गिरता है, और जहरीली भूमि तथा तीक्ष्ण आयुधोंकी वेदनाको नहीं सह सकने के कारण एक दम ऊपरको उछलता है। प्रथम नरकमें सात योजन और छह हजार पांचसौ धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है। आगेके नरकोंमें उछलनेका प्रमाण उत्तरोत्तर दूना-दूना है■। इस प्रकार कई बार फुटबालके समान नीचेसे ऊपर उछलनेपर जब नया नारकी अधमरासा होकर नीचे पड़ जाता है, तब पुराने नारकी उस नवीन नारकीको देखकर धमकाते और घुड़कियां देते हुए उस पर इस प्रकार टूट पड़ते हैं, जिस प्रकार क्रूर सिंह मृगके बच्चेको देखकर उसके ऊपर टूट पड़ता है♥। वे नारकी चक्र, बाण, मुग्दर, करोंत, भाला, मूसल, तलवार आदिसे मारने-काटने लगते हैं। कितने ही नारकी उसे पकड़कर और पूर्वभवके

---

* देखो तिलोयपण्णत्ती अध्याय २ गाथा ३०२ से ३०८।

■ देखो तिलोयपण्णत्ती अ० २, गाथा ३१४, ३१५,

♥ " " " " ३१७ से ३२६.

वैरोंका स्मरण कर उसे कोल्हूमें पेल देते हैं, कोई उसे धधकती हुई भट्टियोंमें झोंक देते हैं, कोई उबलते हुए तेलके कड़ाहोंमें डाल देते हैं[*]। इस प्रकार जब वह नारकी इन असंख्य यातनाओंसे मरणासन्न हो जाता है, तो अपने प्राण बचाकर शान्ति पानेकी इच्छासे वहां बहनेवाली वैतरणी नदीमें कूद पड़ता है, परन्तु पापके उदयसे वहां भी शान्ति नहीं मिलती। प्रथम तो उस नदीका जल ही अत्यन्त खारा, उष्ण और दुर्गन्धित है, फिर उसमें अगणित मगर-मच्छ आदि भयानक जल-जन्तु मुंह फाड़े हुए खानेको दौड़ते हैं। तब वह नारकी उनसे भी असीम वेदना पाकर बाहर भागता है और किनारे पर खड़े हुए वन-वृक्षोंको देखकर शान्ति और शीतलता पानेकी लालसासे उस वनमें प्रवेश करता है। परन्तु पापियोंको शान्ति कहां? जैसे ही वह नारकी वनके भीतर पहुंचता है, वैसे ही प्रचंड वेगसे आंधी चलना प्रारम्भ हो जाती है और ऊपरसे तलवारकी धारके समान तीक्ष्ण पत्ते, वज्रदंडके समान डालियां और लोहेके गोलोंके समान फल गिरना प्रारम्भ हो जाता है, जिससे उसके अंग-प्रत्यंग छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उसी समय उन वृक्षों पर बैठे हुए गिद्ध, गरुड़, काक आदि तीक्ष्ण और वज्रमय चोंचवाले मांस-भक्षी पक्षी उस पर टूट पड़ते हैं, और उसके शरीरका मांस लोंच-लोंचकर खाने लगते हैं। इसी समय पुराने नारकी आकर उसे मुग्दर, मूसलोंसे मार-मारकर चूरा-चूरा कर डालते हैं, और ऊपरसे नमक, मिर्च जैसे तीक्ष्ण

---

[*] देखो तिलोयपण्णत्ती अ० २, गाथा ३१७-३२६,

पदार्थ उसके शरीर पर डाल देते हैं, जिससे पीड़ित हो वह छटपटाने लगता है, हाय, हाय, विलाप करता है और मूर्च्छित होकर गिर जाता है। ऐसे ही दुःखके समय अम्ब-अम्बरीष आदि नीच जातिके असुर देव* आकर पुराने नारकियोंको संबोधित करते हुए पूर्वभवकी याद दिलाते हैं और उन्हें पुनः आपसमें लड़ाने के लिए उकसाते हैं।

उन नरकोंमें शीत की वेदना इतनी अधिक है कि यदि मेरु पर्वतके समान लाख योजनका विशाल लोहेका गोला डाला जाय, तो वह जमीन तक पहुँचनेके पूर्व ही अधर प्रदेशमें नमक की डलीके समान गलकर बिखर जायगा। इसी प्रकार उष्ण नरकोंमें इतनी अधिक उष्णता है कि मेरु-समान लोहेका गोला तल-प्रदेश तक पहुँचनेके पूर्व ही मोमके खंडके समान पिघलकर पानी-पानी हो जायगा। यह वर्णन त्रिलोक प्रज्ञप्तिके अनुसार है♥ और छहढालाकारने 'गलि जाय' इस एक पदके द्वारा दोनों का ही वर्णन कर दिया है; क्योंकि गलनेका अर्थ पिघलना भी होता है और सड़ना या बिखरना भी होता है। राज-वार्त्तिककारने शीतका वर्णन इस प्रकार किया है कि यदि वह पिघला हुआ लोहे का गोला शीत नरकोंमें डाला जाय, तो क्षणमात्रमें ही एकदम जम जाता है‖।

---

* ये असुरकुमार देव तीसरे नरक तक ही जाते हैं, उससे आगे नहीं।

♥ देखो—तिलोयपण्णत्ती अ० २ गा० ३२, ३३।

‖ देखो—तत्वार्थ राजवार्तिक अ० ३ सूत्र ३ की टीका।

सातों नरकोंके कुल बिलोंकी संख्या चौरासी लाख है। इनमें से प्रथम नरकमें ३० लाख बिल, दूसरेमें २५ लाख, तीसरेमें १५ लाख, चौथेमें १० लाख, पांचवेंमें ३ लाख, छठेमें ५ कम एक लाख और सातवें नरकमें सिर्फ ५ बिले हैं। इनमें ऊपर के ८२ लाख बिलोंमें उष्ण वेदना है और नीचे के २ लाख बिलोंमें शीत वेदना है। गर्मीकी अपेक्षा सर्दीकी वेदना अधिक होती है इसलिए पांचवें नरकके आधे भागसे नीचे शीत वेदना बतलाई गई है।

नारकियोंको भूख-प्यास का महान् कष्ट सहन करना पड़ता है। निरन्तर असह्य प्यास लगी रहने पर भी जलकी एक बूँद पीनेको नहीं मिलती है, यदि कभी भूल कर वे वैतरणी नदीका एक घूँट मुँहमें डाल लेते हैं, तो प्यास बुझनेकी जगह असंख्य वेदना और नई उत्पन्न हो जाती है। यही दशा भूखकी है, निरन्तर भूखका कष्ट उठाने पर भी खानेको अन्नका एक दाना नहीं मिलता है। भूखकी असह्य वेदना से पीड़ित हो वे नारकी वहांकी अत्यन्त तीखी, कड़वी और दुर्गन्धित थोड़ी-सी मिट्टीको वे चिरकाल में खाते हैं। उस मिट्टी से इतनी दुर्गन्ध आती है और वह इतनी जहरीली होती है कि यदि पहले नरककी मिट्टी यहां लाकर डाल दी जाय, तो एक कोशके भीतर रहनेवाले समस्त जीव मर जायं। इसका यह जहरीलापन और घातकशक्ति आगेके नरकोंमें क्रमशः आधा-आधा कोश बढ़ती गई है, इस

क्रम से सातवें नरककी मिट्टीमें ४ कोशके जीवोंके मारनेकी शक्ति समझना चाहिए❤।

इस प्रकार नरकोंके भीतर नारकी जीव असंख्य काल तक भारी वेदनाको सहनेके बाद अत्यन्त सौभाग्यसे मनुष्य गतिको प्राप्त कर पाता है।

शंका—नारकियोंकी आयु किस नरकमें कितनी है ?

समाधान—प्रथम नरकमें जघन्य आयु १० हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक सागर की है। दूसरेमें उत्कृष्ट आयु तीन सागर, तीसरेमें सात सागर, चौथेमें दस सागर, पांचवेंमें सत्तरह सागर, छठेमें बाईस सागर और सातवेंमें तीस सागरकी है। दूसरे आदि नरकोंमें जघन्य आयु पूर्वके नरकोंकी उत्कृष्ट आयुसे एक समय अधिक जानना चाहिए।

इन नारकी जीवोंका असमय में मरण नहीं होता है। शरीरके तिल बराबर भी टुकड़े कर दिये जाने पर वह पारेके समान पुनः आपसमें मिल जाते हैं।

उक्त कथनमें इतनी बात विशेष जानना चाहिए कि नरकोंमें विकलत्रय या पशु-पक्षी जीव नहीं होते हैं। ग्रन्थकारने जो वैतरणी नदीको 'कृमि-कुल-कलित' कहा है, उसका आशय यह है कि वहांके नारकी ही नये या पुराने नारकियोंको वेदना पहुँचाने की दुर्भावनासे अपने शरीरकी विक्रिया द्वारा लट, जोंक, सर्प

❤—देखो तिलोयपण्णत्ती अ० २ गाथा ३४३—३४६।

मगर, मच्छ, कच्छप, व्याघ्र, गिद्ध आदि का रूप धारण कर लेते हैं। जैसा कि तिलोयपण्णत्तीमें कहा है—

जलयर-कच्छप-मंडूक-मयरपहुदीण विविहरूवधरा ।
अण्णोण्णं भक्खंते वइतरिणि जलम्मि णारइया ॥१॥
अ० २, गा० ३२६

वय-वग्घ-तरच्छ-सिगाल—साण--मज्जाल—सीहपहुदीणं ।
अण्णोण्णं च सदा ते णिय-णियदेहं विगुव्वंति ॥२॥
अ० २, गा० ३१६

सूवर-वणग्गि—सोणिद-किमि-सरि-दह- कूव वाइपहुदीणं ।
पुहु-पुहरूवविहीणा णिय-णियदेहं पकुव्वंति ॥३॥
अ० २, गा० ३२१

अर्थ—वैतरिणी नदीके जलमें नारकी जीव कछुआ, मेंढक, और मगर आदि जलचर जीवोंके विविध रूपोंको धारण कर आपसमें एक दूसरे को खाते हैं ॥१॥

वे नारकी जीव, भेड़िया, व्याघ्र, तरक्ष, शृगाल, श्वान, मार्जार और सिंह आदिके अनुरूप नई-नई अपने देहकी विक्रिया किया करते हैं ॥२॥

वे ही नारकी शूकर, दावानल तथा शोणित, (खून) और 'कृमि' युक्त सरित् (नदी) द्रह, कूप और वापी आदि रूप पृथक् पृथक् रूपसे रहित अपने-अपने शरीर की विक्रिया किया करते

हैं, क्योंकि नारकियोंके पृथग्विक्रिया नहीं होती, अपृथग्विक्रिया ही होती है ॥३॥

यही बात सेमर वृक्ष आदिके विषयमें जानना चाहिए, अर्थात् नारकी जीवही विक्रियाके द्वारा वृक्षादिका रूप धारण कर लेते हैं। मूसल, मुग्दर, चक्र, तलवार आदिके विषयमें भी यही बात जानना चाहिए।

शंका—किस प्रकार के पापकर्म करनेवाले जीव नरकमें जाकर उत्पन्न होते हैं?

समाधान—मद्यपान करनेवाले, मांस-भक्षी, दीन पशु-पक्षियोंके घातक, और शिकार खेलनेवाले जीव नरकोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं और वहां अनन्त दुःखको पाते हैं≡। जो जीव लोभ क्रोध, भय, अथवा मोहके बलसे असत्य वचन बोलते हैं, वे निरन्तर भयको उत्पन्न करनेवाले, महान् कष्ट-कारक और अत्यन्त भयानक नरकमें जाते हैं*। जो जीव मकानोंकी दीवारों को छेदकर, कंजूस धनी पुरुष को मारकर और पट्टादिकको

≡ मज्जं पिबंता पिसिदं लसंता जीवे हणंते मिगलाण तत्ता।
णिमेस मेतेण सुहेण पावं पावंति दुक्खं णिरए अणंतं ॥
ति० प. अ०२, गा. ३६२.

* लोह-कोह-भय-मोह बलेणं जे वदंति वयणं पि असच्चं।
ते णिरंतर भये उरुदुक्खे दारुणम्मि णिरयम्मि पडंते ॥
ति० प. अ० २. गा ३६३,

ग्रहण करके पराये धनको हरण करते हैं, तथा अनेकों प्रकारके अन्यायोंको करते हैं, वे घोर नरकमें जाकर दुःखोंको भोगते हैं* । जो लज्जासे रहित, कामसे उन्मत्त और, जवानीमें मस्त, हो परस्त्री में आसक्त रह रात-दिन मैथुनका सेवन करते हैं, वे प्राणी नरकों में जाकर घोर दुःखको पाते हैं॰ । जो लोग पुत्र, स्त्री, स्वजन और मित्रोंके जीवनार्थ दूसरों को ठगकर अपनी तृष्णा को बढ़ाते हैं, तथा पराये धनको हरण करते हैं वे तीव्र दुःखके उत्पन्न करनेवाले नरक में जाते हैं॰ । जो जीव आयु के बंधके समय अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ कषायसे व्याप्त चित्त रहते हैं, कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभलेश्याओंके अनुरूप जिनकी प्रवृत्त रहती है, जो बहुत आरंभ और परिग्रहमें मस्त रहते हैं, दया और धर्मसे जिनका हृदय शून्य रहता है और जो आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चारों संज्ञाओंमें अत्यन्त आसक्त रहते हैं, ऐसे पापी मनुष्य और

---

* छेत्तूण भित्तिं वाधिदूण पियं पट्टादि बेत्तूण धणं हरंता।
अण्णेहि अण्णाअसण्हि मूढा भुंजंति दुक्खं णिरयम्मि घोरे ॥

॰ लज्जाए चत्ता मयणेण मत्ता तारुण्ण रत्तापरदाररत्ता।
रत्ती-दिणं मेहुणमामा चरंता पावंति दुक्खं णिरएसु घोरं ॥

॰ पुत्ते कलत्ते सजणम्मि मित्ते जे जीवणत्थं पर वंचणेणं।
वड्ढंति तिण्णा दविणं हरंते ते तिव्वदुक्खे णिरयम्मि जंति ॥

तिलोयपण्णती अ० २ गा० ३६४-३६६ ।

तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीव नरकमें जाकर उत्पन्न होते हैं।

शंका—नरकोंसे निकलकर जीव किस-किस गतिमें उत्पन्न हो सकता है ?

समाधान—नरकसे निकलकर कोई भी जीव पुनः तदनन्तर भावी पर्यायमें न नरकमें ही जा सकता है, न देव ही हो सकता है, किन्तु मनुष्य और तिर्यग्गतिमें उत्पन्न होता है। किन्तु सातवें नरकसे निकला हुआ जीव नियमसे पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होता है।

शंका—क्या नरकोंसे निकला हुआ जीव सर्व प्रकारके मनुष्यमें उत्पन्न हो सकता है ?

समाधान—नरकोंसे निकला हुआ जीव नारायण, प्रति-नारायण, बलभद्र और चक्रवर्ती नहीं हो सकता, न भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यंच ही हो सकता है। तीसरे नरक तकसे निकला हुआ जीव तीर्थंकर हो सकता है, इससे नीचेका नहीं। चौथे नरकसे निकला हुआ जीव चरमशरीरी हो सकता है। पांचवें नरकसे निकला हुआ जीव सकलसंयमी हो सकता है। छठे नरकसे निकला हुआ जीव देशसंयमी तक हो सकता है। सातवें नरकसे निकला हुआ जीव मनुष्य नहीं हो सकता है, किन्तु तिर्यंच ही होता है। पर, उनमें कोई विरला प्राणी सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है।

शंका—नरकसे निकला हुआ जीव पुनः नरकमें कितने बार उत्पन्न हो सकता है ?

समाधान—नरकसे निकला हुआ जीव अनन्तर पश्चात् तो नरकमें जा नहीं सकता, पर मनुष्य या तिर्यंच होकर पुनः नरकमें अवश्य जा सकता है। प्रथम नरकसे निकलकर और मनुष्य या तिर्यंच होकर पुनः प्रथम नरकमें यदि उत्पन्न हो तो इस क्रमसे लगातार आठ बार तक प्रथम नरकमें उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार दूसरे नरकमें लगातार सात बार, तीसरे नरकमें लगातार छहबार, चौथे नरकमें पांचबार, पांचवें नरकमें चारबार छठे नरकमें तीनबार और सातवें नरकमें दोबार लगातार उत्पन्न हो सकता है, इससे अधिक नहीं।

शंका—किस-किस जातिके मनुष्य या तिर्यंच जीव किस-किस नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं ?

समाधान—असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्रथम नरकके अन्त तक उत्पन्न हो सकते हैं, पेटसे चलने वाले सरीसृप आदि जीव दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, भुजंगादिक चौथे नरक तक, सिंह व्याघ्रादिक शिकारी जानवर पांचवें नरक तक, स्त्री छठे नरक तक और मत्स्य सातवें नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं। मनुष्य पहले नरकसे लेकर सातों ही नरकोंमें अपने पाप कर्मके अनुसार उत्पन्न हो सकते हैं।

इस प्रकार नरकगतिके दुःखोंका वर्णन समाप्त हुआ।

अब ग्रंथकार मनुष्यगतिके दुःखोंका वर्णन करते हैं:—

जननी उदर वस्यो नव मास, अंग सकुचतैं पाई त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर॥१४

बालपनेमें ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी-रत रह्यो।
अर्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो ॥१५॥

अर्थ—मनुष्यगतिमें आकर यह जीव सबसे पहले तो नौ मास माताके उदरमें निवास करता है, वहां पर शरीरके अंगोंके संकुचित रहनेसे भारी दुःखको प्राप्त करता है। फिर माताके उदर से बाहर निकलते हुए जिन भयंकर घोर दुःखोंको पाता है, उनका कहनेसे अन्त नहीं आ सकता है। यदि किसी प्रकार जीवित बाहर निकल भी आया और बचपनके रोगोंके द्वारा मरने से बच भी गया, तो बालपने में विद्या का अभ्यास कर ज्ञान-उपार्जन नहीं किया, जवानी में स्त्रीके साथ विषय-भोग में मस्त रहा। धीरे-धीरे बुढ़ापा आगया, जोकि अधमरेके समान है, जिसमें कि मनुष्य अपना कुछ भी कल्याण नहीं कर सकता, फिर भला बतलाइए कि किस अवस्था में यह जीव अपने आत्म-स्वरूपकी पहचान करे ?

विशेषार्थ--मनुष्य भवकी प्राप्तिको आचार्यों ने इस प्रकार अत्यन्त कठिन बतलाया है जिस प्रकार कि बालूके समुद्र में गिरी हुई हीराकी कणीको पुनः प्राप्त करना। इस प्रकारके अतिदुर्लभ मनुष्य भवको पानेके बाद भी अनेकों जीव तो गर्भावस्थामें ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। यदि भाग्यवश जीवित बाहर निकल भी आया, तो बाल्यावस्था में उत्पन्न होनेवाले सैकड़ों रोगोंसे ग्रस्त होकर जीवन-मरणके संशयमें झूलता रहता है। भाग्योदय से

बीमारी आदिसे यदि किसी प्रकार बच भी गया, तो खेल-कूदमें ही लगा रहनेसे विद्याभ्याससे वंचित रह गया और खोटी संगति में फंस गया, जिससे युवावस्था आने पर कभी स्त्रियोंके भोगोंमें मस्त रहा, तो कभी जुआ खेलने, मांस खाने, चोरी करने, शिकार खेलने आदि दुर्व्यसनों में पड़कर अपना जीवन व्यर्थ कर दिया। धीरे-धीरे वृद्धावस्था आगई, और शारीरिक एवं मानसिक चिन्ताओंसे ग्रस्त हो जर्जरित हो गया, क्षीणशक्ति होकर पराधीन होगया, तब औरोंकी तो बात ही क्या है, अपने पुत्र स्त्री आदि तक उसकी अवहेलना करने लगते हैं, भर्त्सना और तिरस्कार करते हैं। जिन पुत्रों को बड़े लाड़-प्यारसे लालन-पालन किया था, वे ही धुड़कियां देकर कहने लगते हैं, चुप बैठ, तेरी बुद्धि मारी गई है, साठ वर्ष होजानेसे अक्ल सठिया गई है, आदि। इस वृद्धावस्थामें क्षीणशक्ति हो जानेसे मनुष्य चलने तकसे भी असमर्थ होजाता है, उठना-बैठना दूभरहो जाता है, अंग-अंग गल जाते हैं, शरीर में झुर्रियां पड़ जाती हैं, सिर कांपने लगता है, मुखसे लार बहने लगती है, दांत गिर जाते हैं, दृष्टि मन्द होजाती है, कान बहरे होजाते हैं, कई गूंगे बन जाते हैं। ऐसी अवस्था को आचार्योंने 'अर्धमृतक सम बूढ़ापनो अर्थात् बुढ़ापा अधमरेके समान है' यह बिलकुल ठीक ही कहा है। जब मनुष्य पर्यायके तीनों पनोंकी यह दशाहै, तब ग्रन्थकार अत्यन्त दुःख प्रकट करते हुए कहते हैं, कि फिर यहजीव अपनी आत्माका यथार्थस्वरूप कैसे देख सकता है? अर्थात् कभी नहीं। कहनेका सारांश यह

कि वही जीव अपने आत्मस्वरूपकी पहचान कर सकता है जो बचपनमें निरन्तर विद्याभ्यास करता हुआ सद्-ज्ञानका उपार्जन करता है और जवानीमें न्यायपूर्वक धन-उपार्जन व सत्-कार्योंमें उसका उपयोग करता है, दान, पूजन शील-संयम आदिका यथा-शक्ति पालन करते हुये जो अहर्निश संसारसे उदासीन रहता है, पुण्य-पापके फल में हर्ष-विषाद नहीं करता है और जो सतत आत्म-स्वरूपके चिन्तवनमें लगा रहता है। परन्तु जन-साधारण की प्रवृत्ति अनादि कालके संस्कार-वश आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंकी साधक सामग्री जुटानेमें ही लगी रहती है और इनके पीछे न्याय-अन्यायको कुछ नहीं गिनता है, अपनी स्वार्थमयी वासनाओं को पूरा करनेके लिए दूसरोंके धन का अपहरण करता है, झूठ बोलता है, पराई बहू बेटियोंके साथ दुराचरण करता है और समय आने पर दूसरेका गला काटने से भी नहीं चूकता। इन सांसारिक प्रपंचोंमें ही फंसा रहनेके कारण उसे अपने आपकी कुछ सुध नहीं रहती कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और कहां जाऊंगा? मेरा क्या स्वरूप है, मुझे क्या प्राप्त करना है और उसकी प्राप्तिका मार्ग कौनसा है, व उसके साधन कौनसे हैं? जब तक मनुष्यके हृदयमें उक्त विचार जागृत नहीं होते हैं, तब तक वह आत्मउन्नतिकी ओर अग्रेसर ही कैसे हो सकता है? इस प्रकार मोहनिद्रामें पड़ा हुआ यह जीव मनुष्य पर्याय की तीनों अवस्थाओंको योंही व्यर्थ गवां देता है।

अब ग्रन्थकार देवगतिके दुःखका वर्णन करते हैं—

कभी अकाम निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुरतन धरै।
विषय-चाह-दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो॥१६॥
जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शनविन दुख पाय।
तहंते चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै ॥१७॥

अर्थ—मनुष्य-पर्यायमें कभी इस जीव ने अकाम-निर्जरा की, तो उसके फलसे भवनत्रिक अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन प्रकारके देवोंमेंसे किसी एक जातिके देवका शरीर धारण किया। वहां पर जीवन भर तो विषयोंकी चाहरूपी दावानलमें जलता रहा, तथा मरते समय रो-रो कर विलाप किया और अत्यन्त दुःखको सहन किया। यदि कदाचित् यह जीव विमानवासी देव भी हो गया तो भी वहां सम्यग्दर्शनके बिना अत्यन्त दुःख पाता है और जीवनके अन्तमें वहांसे च्युत होकर एकेन्द्रिय स्थावर शरीरको धारण किया। इस प्रकार यह जीव चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमणके चक्रको पूरा किया करता है।

विशेषार्थ—देवगतिमें जो जीव उत्पन्न होते हैं, उन्हें देव कहते हैं। देव चार प्रकारके होते हैं—भवन-वासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। रत्नप्रभा पृथिवीके खर भाग व पंकभागमें स्थित भवनों में रहने-वाले देवों को भवनवासी कहते हैं, इनके असुरकुमार, नागकुमार आदि १० भेद हैं। ये देव सोलह वर्षकी

आयुवाले नवयुवक कुमारोंके समान सदा हास्य, कौतूहल आदि में मस्त रहते हैं, इसलिए इनके नामोंके आगे 'कुमार' शब्द जुड़ा हुआ है। जो पर्वत नदी, वन, वृक्ष, समुद्र द्वीप आदि विविध स्थानोंमें रहते हैं, उन्हें व्यन्तर देव कहते हैं इनके किन्नर, किंपुरुष आदि आठ भेद होते हैं। ये ही देव मनुष्य, स्त्री आदिके शरीरमें प्रवेश कर नाना प्रकारके कौतूहल किया करते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारा आदि ज्योतिषी देव हैं, जिनके ज्योतिर्मय विमानोंके कारण इस भूमण्डल पर प्रकाश पहुँचता है और दिन-रात आदि कालका विभाग होता है। इन तीनों प्रकारके देवोंको भवनत्रिक कहते हैं। इनमें मिथ्यादृष्टि मनुष्य या तिर्यंच ही जन्म लेते हैं। यद्यपि शास्त्रोंमें भवनवासी आदि देवोंमें उत्पत्तिके कारण भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं, परन्तु सामान्यरूपसे अकाम निर्जरा तीनों प्रकार के देवोंमें उत्पत्तिका कारण है, इसलिए ग्रन्थकारने यहां उसी एक कारण का उल्लेख किया है।

शंका—अकामनिर्जराकिसे कहते हैं ?

समाधान—अपनी इच्छाके विना केवल पराधीनतासे भोग-उपभोगका निरोध होनेसे, तथा तीव्र कषाय-रहित होकर भूख, प्यास, मारन, ताड़न वा रोगादिके कष्ट सहन करनेसे, या प्राणघात होजानेसे जो कर्मोंकी निर्जरा होती है, उसे अकाम निर्जरा कहते हैं।

शंका—भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होनेके कारणोंको विस्तारसे भिन्न-भिन्न बतलाइये ?

समाधान—जो ज्ञान और चारित्रको धारण करते हुए भी मिथ्यात्व न छूटनेके कारण धर्म-पालनमें शंका-शील रहते हैं, संक्लेश भावसे युक्त होकर व्रत उपवास आदि करते हैं, स्त्रीके वियोगसे संतप्त होते हुए भी जो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, ऐसे जीव भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। जो मनुष्य हास्य आदि के वशीभूत हो असत्य-संभाषणमें अनुरक्त रहते हैं, सदा दूसरों की नकल किया करते हैं, परिहास उड़ाया कहते हैं, ऐसे जीव कन्दर्प जातिके भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। जो मनुष्य भूतिकर्म और मंत्राभियोग करते हैं, नाना प्रकारके कौतूहलोंमें लगे रहते हैं, लोगों की खुशामद किया करते हैं, वे वाहन जाति भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। जो मनुष्य तीर्थंकर, व संघ की महिमा पूजा तथा आगम-ग्रन्थ आदिके प्रतिकूल आचरण करते हैं दुर्विनयी और मायाचारी होते हैं, उनके यदि भाग्यवश देवायुका बंध हो जाय तो वे किल्विषिक जाति के देवोंमें उत्पन्न होते हैं। जो जीव क्रोध, मान, माया और लोभमें आसक्त हैं, चारित्र धारण करते हुए भी निर्दय भावसे युक्त हैं, वे असुरकुमार देवोंमें उत्पन्न होते हैं। जीवन पर्यंत सद्धर्मको धारण करके भी जो जीव मरण के समय उसकी विराधना कर देते हैं और समाधिके विना मरण को प्राप्त होते हैं, वे कन्दर्प, आभियोग्य, सम्मोह आदि नाना-प्रकारके निकृष्ट भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं*।

* देखो तिलोयपण्णत्ती अ० ३ गाथा १९८ से २०६ तक

शंका—व्यन्तर जातिके देवोंमें उत्पन्न होनेके विशेष कारण कौन-कौनसे हैं।

समाधान—जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी मंद कषायसे युक्त होकर गाने बजानेमें लगे रहते हैं, लोगोंके मनोरंजनके लिए बहुरूपियों का वेश धारण करते हैं, वन्दीजन, चारण और नट-भांडोंका पेशा करते हैं उनके यदि भाग्यवश देवायुका बंध हो जाय, तो वे व्यन्तर जातिके देवोंमें उत्पन्न होते हैं। घर की यातनाओंसे ऊबकर कूप नदीमें गिरकर या अग्निमें प्रवेश कर, फांसी लगाकर मरने वाले भी प्रायः व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होते हैं।

शंका—ज्योतिष्क देवोंमें उत्पन्न होनेके विशेष कारण कौन कौनसे हैं?

समाधान—पंचाग्नि का तपना, पहाड़ की चोटियों पर ध्यान लगाना, शरीरमें भस्म लगाकर साधु-महंतपने को प्रगट करना, जटाजूट धारण कर मल परीषह को सहन करना, लोगों में मान-प्रतिष्ठाके लिए नाना प्रकारके आसन लगाकर ध्यान करनेका स्वांग रचना, घी, दूध, दही आदि का त्याग केवल पूजा-सत्कार पानेके लिए करना, इत्यादि कारण-विशेषोंसे मिथ्यादृष्टि जीव ज्योतिष्क देवोंमें उत्पन्न होता है।

इस प्रकार उक्त कारण-विशेषोंसे भवनत्रिकमें उत्पन्न होने वाले सर्व देवोंके यद्यपि पंचेन्द्रियोंके समस्त भोग-उपभोगकी सामग्री उपलब्ध रहती हैं, तथापि मिथ्यात्व कर्मके तीव्रोदयसे

अपनेसे अधिक विभूति वाले देवोंको देखकर उनके हृदयमें ईर्ष्या की अग्नि जलती रहती है और उसे प्राप्त करनेके लिए अनेक संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। उन्हें अपने पुण्योदय से प्राप्त भोगोंमें संतोष नहीं रहता, इस कारण वे आकुलता रूप महान् मानसिक दुःख का सदा काल अनुभव करते रहते हैं।

विमानवासी देवोंको यद्यपि भवनत्रिकके समान ईर्ष्याभाव नहीं होता और वे उनकी अपेक्षा बहुत अधिक सुखी भी होते हैं, तथापि सम्यग्दर्शनके बिना अपनी प्रियतमा देवियोंके वियोगकाल में वे अत्यन्त दुःखका अनुभव करते हैं। इसके अतिरिक्त देवोंकी आयुके जब छह मास शेष रह जाते हैं, तब उनके गलेमें पड़ी हुई कल्पवृक्षोंकी माला मुर्झा जाती है, और वस्त्राभूषण कान्तिहीन हो जाते हैं। यह देखकर वे देव एकदम आश्चर्यसे स्तम्भित रह जाते हैं और फिर अवधि ज्ञानसे जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि हमारी देवपर्यायके सिर्फ छह मास ही शेष रह गये हैं, तब मिथ्यादृष्टि देव अत्यन्त विकल होते हैं और नाना-प्रकारके विलाप करते हैं। उस समय उनके परिवारके तथा अन्य देव आकर समझाते हैं और उसके दुःख को दूर करने की भरपूर चेष्टा करते हैं, परन्तु मिथ्यात्व-मोहित-मति होनेके कारण उसकी समझमें कुछ नहीं आता है और ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है त्यों त्यों वह अधिक विलाप करके अत्यन्त दुःखी होता जाता है। जब उसे यह ज्ञात होता है कि यहांसे मरकर जीव

मनुष्य या तिर्यँच योनिमें उत्पन्न होता है तो वह विलाप करता हुआ कहता है कि हाय, हाय, कृमि-कुलसे भरे हुए, पल, रुधिर आदिसे व्याप्त अत्यन्त दुर्गन्धित गर्भमें मैं नौ मास तक कैसे रहूँगा ? मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किसकी शरण पकड़ूँ ? हाय, मेरा कोई ऐसा बंधु नहीं है जो मुझे यहाँसे गिरनेसे बचा सके। वज्र जैसे आयुध को धारण करने वाला, ऐरावत हाथी की सवारी करने वाला देवोंका स्वामी इन्द्र भी—जिसकी कि मैंने जीवनभर सेवा की है—मुझे बचानेके लिए समर्थ नहीं है। इस प्रकार नाना भांतिसे विलाप करता हुआ वह कहता है कि यदि यहाँसे मेरा मरण होता है, तो भले ही होवे, पर मनुष्य तिर्यँचोंके उस नरकावासके तुल्य गर्भमें निवास न करना पड़े, भले ही मेरी उत्पत्ति एकेन्द्रियोंमें हो जाय । ऐसा विचार जब बहुत समय तक हृदयमें हिलोरें मारता है, तब वह एकेन्द्रियों की आयुका बंध कर लेता है, क्योंकि भुज्यमान आयुके छह मास अवशिष्ट रहने पर ही उनकी पर-भव-सम्बन्धी आयुके बंधनेका अवसर आता है। इस प्रकार आगामी भवकी आयुको बांधकर और वर्तमान पर्याय की आयुके पूरा हो जाने पर वह मरकर निदानके वशसे एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो जाता है।

शंका—क्या सभी मिथ्यादृष्टि देव मरकर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, किन्तु भवनत्रिक और दूसरे स्वर्ग तकके मिथ्यादृष्टि देव मरकर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो सकते हैं।

शंका—क्या उक्त देव मरकर सभी प्रकारके एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, किन्तु पृथिवी-कायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक इन तीनों जातिके एकेन्द्रियोंमें ही उत्पन्न होते हैं, शेष अग्निकायिक और वायु-कायिक एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं। पृथ्वीकायिक जीवोंमें भी सभी जातिके पृथ्वी-कायिकों में नहीं, किन्तु हीरा, पन्ना, नीलम आदि ऊँच जाति की रत्नमयी पृथ्वीकायिक जीवोंमें उनकी उत्पत्ति होती है। जल कायिकमें भी सभी जातिके जल-कायिक जीवोंमें नहीं, किन्तु स्वातिबिन्दु जैसे जल-कायिक जीवोंमें उत्पत्ति होती है, जोकि जलमोती या गजमुक्ताके रूपमें परिणत होता है। इसी प्रकार वनस्पति कायिकमें भी गुलाब, चमेली, वेला, चम्पा आदि उत्तम जातिके पुष्पवृक्षोंमें और नारियल, अनार, केला, सेब, आम आदि उत्तम जातिके फल वृक्षोंमें उत्पन्न होता है।

शंका—दूसरे स्वर्गसे ऊपरके मिथ्यादृष्टि देव किन-किन योनियोंमें जन्म लेते हैं ?

समाधान—तीसरे स्वर्ग से लेकर बारहवें स्वर्ग तकके मिथ्या-दृष्टि देव संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्योंमें जन्म लेते हैं। इससे ऊपर के देव मनुष्य योनियों ही जन्म लेते हैं।

शंका—किन कारणोंसे जीव वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है ?

समाधान—सराग संयमको धारण करनेसे, व्रत, शील, संयमको पालन करनेसे जीव विमानवासी देवोंमें उत्पन्न होता है। जो सम्यग्दर्शन सहित उक्त व्रतादिकका पालन करते हैं, वे इन्द्र, प्रतीन्द्र आदि महर्द्धिक देवोंमें उत्पन्न होते हैं और जो मिथ्या दृष्टि उक्त व्रत आदिका पालन करते हैं, वे निम्न श्रेणी के वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होते हैं।

संसार-परिभ्रमणका मूल कारण मिथ्यादर्शन है, इसके कारण ही जीव चतुर्गतिमें नाना प्रकारके दु:ख भोगा करता है। मिथ्यादर्शनके समान त्रिलोक और त्रिकालमें भी जीवका कोई अन्य शत्रु नहीं है। इसलिए संसारसे भयभीत प्राणियोंको इससे त्यागका और सम्यग्दर्शनके धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिए बिना सम्यग्दर्शन के जीव का संसार से उद्धार नहीं हो सकता है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने इस प्रथम ढालमें चतुर्गति-परिभ्रमण का वर्णन किया।

दूसरी ढाल

(पद्धरी छन्द १५ मात्रा)

अब ग्रन्थकार दूसरी ढालका प्रारंभ करते हुए सबसे पहले चतुर्गतिमें परिभ्रमणका कारण बतलाते हैं:—

ऐसे मिथ्या दृग ज्ञान चर्ण, वश भ्रमत भरत दुख जन्म मर्ण।
तातें इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूं बखान ॥१॥

अर्थ—यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके वश होकर जन्म-मरणके दुःख सहन करता हुआ संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, इसलिए हे भव्यजीवो! इन तीनोंको जानकर छोड़ देना चाहिए। मैं संक्षेपमें उनके स्वरूपका व्याख्यान करता हूं, सो उसे सुनो।

विशेषार्थ—जीवादि सात तत्वोंके स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान न करना, सच्चे देव, शास्त्र, गुरुके स्वरूपमें वास्तविक प्रतीत न करना और अनेकान्तवाद पर विश्वास न लाना, सो मिथ्यादर्शन कहलाता है। सातों तत्त्वोंका अयथार्थ जानना, एकान्तवादी शास्त्रोंका पठन-पाठन करना, अज्ञानभाव रखना या विपरीत जानना, सो मिथ्याज्ञान है। इन्द्रियों को वशमें नहीं करना, विषय-कषायरूप प्रकृति रखना, मन-वचन और कायको अनियन्त्रित छोड़ना, जटाजूट धारण करना, पंचाग्नि तपना,

शरीरमें भस्म लगाना, आदि असदाचरणको मिथ्याचारित्र कहते हैं। इन तीनोंके वशीभूत होकर यह जीव पर-पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि धारणकर रागी द्वेषी बन सुख-दुःखका अनुभव किया करता है, पर-पदार्थोंको अपनी इच्छानुसार परिणमता हुआ न देखकर आकुल-व्याकुल होता है, रात-दिन उनके पानेके प्रयत्नोंमें ही लगा रहता है, अन्त समयमें हाय-हाय करता हुआ मरण करता है और दुर्गतियोंमें जन्म धारणकर अनेकों कष्टोंको सहन किया करता है। ग्रन्थकार जीवोंको इस संसार-परिभ्रमणसे छुड़ानेके लिए उसका निदान बतलाकर संक्षेपसे उसके स्वरूपका व्याख्यान करते हैं।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, इन तीनोंके समुदायको सामान्यतः मिथ्यात्वके नामसे पुकारते हैं। यह मिथ्यात्व दो प्रकारका है--अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्वका दूसरा नाम निसर्गज मिथ्यात्व भी है। जो मिथ्यात्व अनादि कालसे जीवके साथ चला आरहा है, उसे अगृहीत या निसर्गज मिथ्यात्व कहते हैं। जो मिथ्यात्व इस भव में जीवके द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। इन दोनों ही प्रकारके मिथ्यात्वों में तीन-तीन भेद हैं—अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान, अगृहीत मिथ्याचारित्र; तथा गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान, और गृहीत मिथ्याचारित्र। इस दूसरी ढालमें ग्रन्थकार उक्त दोनों प्रकारके मिथ्यात्वोंका क्रमशः वर्णन करेंगे।

अब सबसे पहले ग्रन्थकार क्रम प्राप्त अगृहीत मिथ्यादर्शन का वर्णन करते हैं :—

जीवादि प्रयोजनभूत तत्व, सरधै तिनमाहिं विपर्ययत्व।
चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप ॥२॥
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान ॥३
मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ॥४॥

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व आत्माके लिए प्रयोजनभूत हैं अर्थात् इनका जानना अत्यन्त आवश्यक है बिना इनको जाने किसीको भी अपने स्वरूपका भान नहीं हो सकता कि मैं कौन हूँ, कहांसे आया हूँ और कहां जाना है। मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादर्शनके प्रभावसे इन सातों तत्वोंके स्वरूपका विपरीत श्रद्धान करता है। जैसे—आत्माका स्वरूप उपयोगमयी है, अमूर्त्त है, चिन्मूर्त्ति है और अनूप है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये जो पांच अजीव तत्वके भेद हैं उनसे जीवका स्वभाव न्यारा है, बिलकुल भिन्न है, इस यथार्थ बातको न समझकर और विपरीत मानकर शरीरमें आत्माकी पहचान करता है, आत्मा और इसी मिथ्यादर्शनके प्रभावसे कहता है कि मैं

सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं रंक हूँ, मैं राजा हूँ, यह मेरा धन है, यह घर है, यह गाय-भैंस मेरी हैं, यह मेरा प्रभाव और ऐश्वर्य है, ये मेरे पुत्र हैं, यह स्त्री है, मैं सबल हूं, मैं निर्बल हूं, मैं सुरूप हूं, मैं कुरूप हूं, मैं मूर्ख हूं, और मैं बुद्धिमान हूं। कहनेका सारांश यह—कि कर्मोदयसे जब जिस प्रकारकी अवस्था जीव को प्राप्त होती है, मिथ्यादृष्टि जीव उसे ही अपने आत्माका स्वरूप समझकर वैसा मानने लगता है और उसीमें तन्मय हो जाता है। यही जीव तत्वका विपरीत श्रद्धान है।

विशेषार्थ—ऊपर जो जीवादि सात तत्व बतलाये गये हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है—चेतना या ज्ञान-दर्शन युक्त पदार्थको जीव कहते हैं, यह अरूपी है, क्योंकि इसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पुद्गलके कोई भी गुण नहीं पाये जाते हैं, इसी कारण जीव आंखोंसे न दिखाई देता है और न अन्य इन्द्रियोंसे ही जाना जाता है अतएव इसे अतीन्द्रिय भी कहते हैं। जिसमें चेतना नहीं पाई जाती है, उसे अजीव तत्व कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाया जाता है उसे पुद्गल कहते हैं इन्द्रियोंके द्वारा दृष्टिगोचर होने वाला समस्त जड़ पदार्थ पुद्गल है। जीव और पुद्गलके चलनेमें जो सहायक होता है, ऐसा त्रैलोक्य-व्यापी सूक्ष्म, अरूपी पदार्थ धर्मद्रव्य कहलाता है। इसी प्रकार जीव और पुद्गलके ठहरनेमें जो सहायक होता है, ऐसा त्रैलोक्य-व्यापी सूक्ष्म, अरूपी पदार्थ अधर्मद्रव्य कहलाता

है। सर्व द्रव्योंको अपने भीतर अवकाश देने वाला द्रव्य आकाश कहलाता है और समस्त पदार्थोंके परिवर्तनमें जो सहायता देता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। इन पांचों द्रव्योंके स्वरूपको यथार्थ जानना अजीव तत्व है। मन, वचन और कायकी चंचलतासे जो कर्म-पुद्गल आत्माके भीतर आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। इस प्रकार आये हुए कर्म पुद्गल आत्माके प्रदेशोंके साथ मिलकर एक मेक हो बन्ध जाते हैं, उसे बंध कहते हैं। आते हुए नवीन कर्मोंके रुक जानेको संवर कहते हैं। पूर्व-संचित कर्मोंके एक देश क्षय होने या झड़नेको निर्जरा कहते हैं और आत्मासे सर्व कर्मोंके अत्यन्त क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं। इन सातों तत्वोंको प्रयोजनभूत कहा है इसका कारण यह है कि जीवके संसार-निवासके प्रधान कारण आस्रव और बन्ध हैं, उनके जाने बिना संसारके परित्यागका प्रयत्न ही कैसे किया जा सकता है, इसलिए इन दोनों तत्वोंकी उपयोगिता सिद्ध है। आत्माका प्रधान लक्ष्य मोक्ष पाना है, इसलिए उसका जानना भी आवश्यक है और उसके प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं, क्योंकि नवीन कर्मोंका निरोध और पूर्व-संचित कर्मोंका क्षय हुए बिना मोक्ष होना संभव ही नहीं है, इसलिए संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन तत्वोंका जानना प्रयोजन भूत है। संसारमें जीवका निर्वाह अजीवके बिना संभव नहीं है, अतएव अजीव तत्वका जानना भी आवश्यक है। इस प्रकार उपर्युक्त सातों तत्व जीवके लिए प्रयोजतभूत माने गये हैं।

मिथ्यात्व कर्मके उदयसे यह जीव ऊपर बतलाये गये सातों तत्वोंका विपरीत श्रद्धान करता है। इनमेंसे जीव तत्वका विपरीत श्रद्धान किस प्रकार करता है, यह ग्रन्थकारके शब्दोंमें ऊपर बतला ही आये हैं। अब आगे शेष तत्वोंका विपरीत श्रद्धान मिथ्यादृष्टि जीव किस प्रकार करता है, यह बतलाने के लिए ग्रन्थकार उत्तर प्रबन्ध कहते हैं:—

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिनही को सेवत गिनत चैन ॥५
शुभ अशुभ बंधके फलमंझार, रति अरति करै निज पद विसार।
आतम-हित-हेतु विराग ज्ञान, ते लखें आपकूं कष्ट दान ॥६
रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीति जुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान ॥६

अर्थ—मिथ्या दर्शनके प्रभावसे यह जीव शरीरके जन्मको अपना जन्म जानता है और शरीरके नाशको अपना मरण मानता है, यह अजीव तत्वका विपरीत श्रद्धान है, क्योंकि जन्म मरण शरीर जो कि अजीव है के होता है, आत्माके नहीं। जिस पदार्थका जैसा स्वरूप है, उसे वैसा न मानना ही उसका विपरीत श्रद्धान कहलाता है। जन्म-मरण अचेतन शरीरके होते हैं, न कि चेतन जीवके। इस प्रकार यह अजीव तत्वके विपरीत श्रद्धान का वर्णन हुआ।

जो राग-द्वेषादि स्पष्ट रूपसे जीवको दुःखके देने वाले हैं, उनको ही सेवन करता हुआ यह जीव आनन्दका अनुभव करता है, यह आस्रव तत्त्वका विपरीत श्रद्धान है, क्योंकि, जो वस्तु यथार्थ में दुःखदायक है, उसे वैसा ही समझना उसका यथार्थ श्रद्धान कहलाता है, पर यहां कर्मास्रव के प्रधान और दुःखदायक कारण राग-द्वेषको सुखका साधन समझकर अपनाया गया है, यही आस्रव तत्त्वका विपरीत श्रद्धान है।

मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपके शुद्ध स्वरूपको भूलकर शुभ कर्मों के बंधके फलकी प्राप्तिमें तो हर्ष मानता है और अशुभ कर्मोंके बंधकी फल-प्राप्तिके समय दुःख मानता है, अरति करता है, यह बंध तत्त्वका विपरीत श्रद्धान है, क्योंकि, जो बंध आत्मा को संसार समुद्रमें डुबोने वाला है, उसी शुभ-बंध के फलमें यह हर्ष मानता है।

इसी प्रकार आत्माके हितके कारण जो वैराग्य और ज्ञान हैं, उन्हें यह मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपको कष्टदायक मानता है। यह संवर तत्त्वका विपरीत श्रद्धान है, क्योंकि संवर अर्थात् कर्मोंके आनेको रोकनेके प्रधान कारण वैराग्य और ज्ञान ही हैं। यहां वैराग्यसे अभिप्राय सम्यक्चारित्रसे और ज्ञानसे अभिप्राय सम्यग्ज्ञानसे है। ज्ञान और वैराग्यके संयोगसे आत्मामें एक ऐसी दिव्य शक्ति जागृत हो जाती है, जिसके कारण कर्मोंका आना स्वयं रुक जाता है। इस प्रकार संवरके

प्रधान कारण ज्ञान और वैराग्यको दुःखदायक मानना ही संवर तत्त्वका विपरीत श्रद्धान है।

मिथ्यादृष्टि जीव अपनी आत्म-शक्तिको खोकर नष्टकर या भूलकर, दिन रात विषयों में दौड़ने वाली इच्छा-शक्तिको, नाना प्रकार की अभिलाषाओंको नहीं रोकता है, यह निर्जरा तत्त्वका विपरीत श्रद्धान है; क्योंकि इच्छाओंके रोकनेको तप कहते हैं और तपसे निर्जरा होती है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव अनादि कालसे लगे हुए मिथ्यात्वके प्रभावसे अपनी अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि आत्मिक शक्तिओंको भूल जाता है उसे अपने आत्मिक अनन्त सुखका भान नहीं रहता है, और वह परपदार्थोंमें ही आनन्द मानकर रात-दिन उनकी प्राप्तिके लिए व्यग्र रहता है, तृष्णातुर हो हाय-हाय किया करता है, यह निर्जरातत्वके यथार्थ स्वरूपको न समझनेका ही फल है।

मोक्षको निराकुलता रूप माना गया है, क्योंकि, निराकुलता ही परम-आनन्द है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस सर्वोत्कृष्ट पदकी प्राप्तिके लिये भी प्रयत्न नहीं करता है, जोकि आत्माका असली स्वरूप है। वह मिथ्यात्वके कारण इस मोक्षरूप निज-स्वरूपको भी 'पर' मानता है और यही मोक्षतत्त्वका विपरीत श्रद्धान है।

उक्त प्रकारसे मिथ्यादृष्टि जीव सातों तत्त्वोंका विपरीत श्रद्धान करता है। इस प्रकारके अयथार्थ श्रद्धानको अगृहीत मिथ्यादर्शन कहा गया है; क्योंकि यह श्रद्धान इस भवमें

उसने किसी गुरू आदिकसे बुद्धि-पूर्वक नहीं ग्रहण किया है किन्तु अनादि कालसे ही लगा हुआ चला आ रहा है, इसी कारण इसका दूसरा नाम निसर्गज मिथ्यात्व भी है।

सातों तत्वोंकी विपरीत श्रद्धाके साथ साथ जीवके जो कुछ ज्ञान होता है, वह 'अगृहीत मिथ्याज्ञान' कहलाता है, क्योंकि यह मिथ्याज्ञान भी इस जन्ममें किसी गुरू आदिसे ग्रहण नहीं किया गया है, किन्तु अनादि कालसे ही जीवके साथ चला आ रहा है। इस मिथ्याज्ञानको अति दुःखका देने वाला जानना चाहिए वास्तव में यह ज्ञान नहीं, किन्तु अज्ञान ही है।

अब आगे ग्रन्थकार अगृहीत मिथ्याचारित्रका स्वरूप वर्णन कर गृहीत मिथ्यादर्शनादिके वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं :—

इन जुत विषयनिमें जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त।
यों मिथ्यात्वादि निसर्गजेह, अब जे गृहीत, सुनिये सुतेह ॥८

अर्थ—अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्याज्ञानके साथ पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें जो अनादिकाल से प्रवृत्ति चली आरही है, उसे अगृहीत मिथ्याचारित्र जानना चाहिए। इस प्रकार अगृहीत मिथ्यादर्शनादिका वर्णन किया। अब आगे गृहीत मिथ्यादर्शनादि का वर्णन किया जाता है, सो उसे हे भव्यजीवो! सावधानीपूर्वक सुनिये।

विशेषार्थ—विषय-कषायरूप जितनी प्रवृत्ति है, वह सब मिथ्याचारित्र है। संसारी जीवकी अनादिकालसे ही इन विषय-

कषायोंमें अत्यन्त आसक्ति लिए हुये प्रवृत्ति पाई जाती है, यहां तक कि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय जीवों तकमें विषय-कषायकी प्रवृत्ति स्पष्टरूपसे देखनेमें आती है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, इन चारों संज्ञाओंकी प्रवृत्ति एकेन्द्रियोंसे लेकर पंचेन्द्रियों तक निराबाधरूपसे पाई जाती है। मिथ्यादृष्टि जीवोंकी इस अनादि-कालिक प्रवृत्तियोंको ही यहां अगृहीत मिथ्याचारित्र कहा गया है, क्योंकि इन्द्रिय-कषायरूप प्रवृत्तिको किसीभी जीवने इस जन्ममें नवीन ग्रहण नहीं किया है, किन्तु सनातनसे ही वैसी प्रवृत्ति पाई जाती है।

इस प्रकार यहां तक निसर्गज या अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका वर्णन किया गया। अब आगे गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्या-चारित्रका वर्णन किया जाता है। उनमें सबसे प्रथम गृहीत मिथ्यादर्शनका स्वरूप कहते हैं :—

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषै चिर दर्शन एव।
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बरतैं सनेह ॥९

धारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव।
जे राग-द्वेष मलकरि मलीन, वनितागदादि जुत चिह्न चीन॥१०

ते हैं कुदेव तिनकी जुसेव, शठ करत न तिन भव-भ्रमण छेव।
रागादि भाव हिंसा समेत, दर्वित त्रस-थावर मरण खेत ॥११

जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म।
या कूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अजान॥१२

अर्थ—कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा चिर-कालके लिए दर्शनमोहनीय कर्मको पुष्ट करती है, अर्थात् कुगुरु, कुदेव आदिकी सेवा-उपासना करना ही गृहीत मिथ्यादर्शन है। अब आगे इन तीनोंका क्रमशः स्वरूप कहते हैं—जो अन्तरंगमें राग-द्वेष, मोह आदिको धारण करते हैं और बहिरंगमें धन, वस्त्र आदि परिग्रहसे संयुक्त हैं तथा जो अपना महंतभाव प्रकट करनेके लिए जटा-जट धारण करते हैं, शरीर को भस्म रमाते हैं, नाना प्रकारके तिलक-मुद्रा आदि लगाते हैं, उन्हें कुगुरु जानना चाहिए। ऐसे कुगुरु संसाररूपी समुद्रसे पार उतारनेके लिए पत्थरकी नावके समान हैं। जिस प्रकार पत्थरकी नाव तैरकर न तो स्वयं पार हो सकती है, और न दूसरे बैठनेवालोंको पार लगा सकती है, इसी प्रकार ये कुगुरु न तो संसार-समुद्रसे स्वयं पार हो सकते हैं, और न अपने भक्तोंको ही पार लगा सकते हैं। अब आगे कुदेवका स्वरूप कहते हैं :—

जो देवता राग-द्वेषरूपी मैलसे मलिन हैं, स्त्रियोंको साथ लिये फिरते हैं। गदा, शंख, चक्र आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको धारण करते हैं, उन्हें कुदेव जानना चाहिए। जो शठ-पुरुष ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि कुदेवोंकी सेवा-उपासना आदि करता है, उसके संसार-परिभ्रमणका अन्त कभी नहीं

आ सकता है, क्योंकि जो स्वयं संसार-समुद्रमें चक्कर लगा रहे हैं, वे दूसरोंको कैसे पार उतार सकते हैं? अब आगे कुधर्मका स्वरूप कहते हैं :—

जो क्रियाएं राग-द्वेष आदि भाव हिंसासे युक्त हैं, जिनके करनेमें त्रस-स्थावर जीवोंकी द्रव्यहिंसा होती है, उन क्रियाओंको कुधर्म जानना चाहिए; क्योंकि द्रव्य-भाव हिंसासे व्याप्त कुधर्मका श्रद्धान करनेसे जीव दुःखोंको ही पाता है।

इस प्रकार उक्त कुगुरु, कुदेव और कुधर्मकी सेवा करनेको गृहीत मिथ्यादर्शन जानना चाहिए, क्योंकि यह मिथ्यात्व इसी जन्ममें ग्रहण किया गया है।

विशेषार्थ—कुधर्मके स्वरूपमें द्रव्य-भाव हिंसाका नाम आया है, उसका विशेष खुलासा इस प्रकार है :- प्रमत्त योगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहते हैं। यह हिंसा दो प्रकारकी होती है— द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। किसी प्राणीको मारनेका जो भाव मनमें जागृत होता है, उसे भावहिंसा कहते हैं। पर-प्राणीका घात चाहे हो, या चाहे न हो, पर ज्यों ही हमारे भाव राग-द्वेषादिसे कलुषित होकर दूसरेको मारनेके होते हैं, वैसे ही हम भाव हिंसाके भागी बन जाते हैं। स्वपर प्राणीके द्रव्य शरीरके घात को द्रव्यहिंसा कहते हैं। अन्य मतावलम्बियों द्वारा धर्म-कार्यरूपसे प्रतिपादित यज्ञ वगैरहमें प्रचुर परिमाणमें द्रव्य और भाव हिंसा होती है इसलिए इन यज्ञादिकोंका करना कुधर्म बतलाया गया है। सच्चा धर्म तो वह है। जिसके करने पर किसी

भी प्राणीको रंच मात्र भी कष्ट न हो । सच्चा गुरु वह है जो विषयोंकी आशा-तृष्णासे रहित हो, सदा ज्ञान-ध्यान और तपमें लवलीन रहता हो। इसी प्रकार सच्चादेव वह है जिसने राग-द्वेष मोहको पूरी तौरसे विजयकर वीतरागका महान् पद पा लिया है, अज्ञान भावका सर्वथा नाशकर सर्वज्ञ बन गया है और जो प्राणिमात्रके सच्चे हितका उपदेशक है। इस प्रकारके लक्षणोंसे रहित जो देव, गुरु या धर्म हैं उन्हें मिथ्या ही जानना चाहिए। इन कुगुरु,कुदेव और कुधर्मकी सेवा-आराधना को गृहीत मिथ्यादर्शन कहा गया है ।

अब आगे गृहीत मिथ्याज्ञानका स्वरूप कहते हैं :—

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि-रचित श्रुतको अभ्यास, सो है कुबोध बहुदेन त्रास१३

अर्थ—जो शास्त्र एकान्तवादसे दूषित हैं, पंचेन्द्रियोंके विषयों के पोषक हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि निंद्य कृत्योंके प्ररूपक होनेसे अप्रशस्त (खोटे) हैं, ऐसे कपिल आदिके द्वारा बनाये गये शास्त्रोंका अभ्यास करना, पढ़ना-पढ़ाना सो गृहीत मिथ्याज्ञान है, और यह बहुत दुःखों का देने वाला है।

विशेषार्थ—प्रत्येक वस्तुका स्वरूप अनेक धर्मोंसे युक्त है, प्रत्येक पदार्थ द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्याय अपेक्षा अनित्य है, परन्तु इस यथार्थ रहस्यको न समझकर यदि कपिलने पदार्थको सर्वथा नित्यही माना है, तो बौद्धने उसे सर्वथा अनित्य माना है,

इस प्रकार के एक धर्ममय पदार्थके कथन करनेको एकान्तवाद कहते हैं। इस एकान्तवादके प्ररूपक शास्त्रोंको कुशास्त्र कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो बातें विषयोंकी पोषण करने वाली हैं, जीवोंमें भय, कामोद्रेक, हिंसा, अहंकार, राग, द्वेष आदि जागृत करने वाली हैं, उनका जो शास्त्र प्रतिपादन करते हैं, झूठी गप्पोंसे भरे हुए हैं, असंभाव्य कथाओं, चरित्रों और आख्यानोंका निरूपण करने वाले हैं, ऐसे सब शास्त्र कुशास्त्र जानना चाहिए। तथा जो शास्त्र इसलोक, परलोक, आत्मा, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदिका ही अभाव बतलाते हैं, वे भी कुशास्त्र हैं। ऐसे कुशास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, उपदेश देना आदि सब 'गृहीत मिथ्याज्ञान' माना गया है। इस मिथ्याज्ञानके प्रभाव से अनेकों जन्मोंमें करोड़ों कष्ट सहन करने पड़ते हैं, इसलिए इन शास्त्रोंके पठन-पाठनसे दूर ही रहना भव्य जीवोंके लिए श्रेयस्कर है।

अब आगे मिथ्याचारित्रका स्वरूप कहते हैं—

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देह दाह।
आतम अनात्मके ज्ञान हीन, जे जे करनी तन करन छीन ॥१४
ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतमके हित पंथ लाग।
जगजाल-भ्रमणको देहु त्याग, अब दौलत निजआतम सुपाग१५

अर्थ—जो पुरुष आत्मा अर्थात् 'स्व' और अनात्मा अर्थात् 'पर' के ज्ञानसे रहित होकर तथा अपनी ख्याति यशः कीर्त्ति

अर्थ-लाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि की इच्छाको धारण करके शरीरको जलाने वाली नाना प्रकारकी क्रियाओंको करते हैं, जिनसे कि केवल शरीर ही क्षीण होता है, आत्माका कोई भी उपकार नहीं होता, उन सब क्रियाओंको गृहीत मिथ्याचारित्र जानना चाहिए। छहढालाकार पं० दौलतरामजी अपने आपको, तथा अन्य भव्य जीवों को संबोधन करते हुए कहते हैं कि हे आत्मन्! अब तू इस जगज्जालके परिभ्रमणको त्याग दे, और अपनी आत्माके हितके मार्गमें लग जा और अपने आपमें मस्त हो जा। यही उक्त सर्व कथनका तात्पर्य है।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानके विद्यमान रहते हुए मनुष्य चारित्रके नाम पर जो कुछ भी धारण करता है, व्रत नियम, उपवास आदि करता है, उसे गृहीत मिथ्याचारित्र कहा गया है। फिर जो क्रियाएं केवल शरीर को ही दुःख पहुंचाने वाली हैं, तथा मान-प्रतिष्ठा, यश कामना, अर्थलाभ आदि की इच्छासे की जाती हैं, त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा करने वाली हैं, उनसे तो आत्म-हितकी कल्पना ही नहीं की जा सकती है, यही कारण है कि आचार्योंने ऐसी क्रियाओं को मिथ्याचारित्र कहा है। पंचाग्नि तपनेमें अगणित त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, जटा-जूट रखनेमें प्रत्यक्ष ही जूं वगैरह उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं, शरीरको राख लगानेमें, तिलक-मुद्रा आदि करनेमें मान-प्रतिष्ठा आदिकी भावना स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है। तथा नाना प्रकारके आसन लगानेमें शरीरको खेदमात्रही होता

है, कोई आत्मलाभ प्रतीत नहीं होता। इसलिए इन सब कार्योंको आत्मज्ञ पुरुषोंने मिथ्या-चारित्र कहा है। यथार्थमें जब तक मनुष्यको स्व और परका विवेक नहीं हो जाता अर्थात् मैं कौनहूं, पर पदार्थ क्या हैं, मेरा और उनका परस्परमें क्या सम्बन्ध है, तब तक बाह्य क्रियाओंके करनेसे कोई भी यथार्थ लाभ नहीं होता, केवल शरीरको पीड़ा ही पहुंचती है, इसीलिए ग्रन्थकारने बहुत ठीक कहा है कि 'आतम-अनात्मके ज्ञान हीन जे जे करनी तन करन छीन ।'

इस समस्त कथनका सारांश यह है कि गृहीत और अगृहीत दोनों ही प्रकारके मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र आत्माको संसारमें डुबाने वाले हैं और अनन्त दुःखोंके कारण हैं इसलिए इनको छोड़ना चाहिए, तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण करना चाहिए, जिससे कि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको प्राप्त कर अनन्त सुखी बन सके और संसार-परिभ्रमणसे मुक्त हो सके।

दूसरी ढाल समाप्त

तीसरी ढाल

अब ग्रन्थकार संसार-परिभ्रमण छूटने और मोक्ष पाने का उपाय बतलाते हैं :—

आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिए।
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिए ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो ॥१॥

अर्थ—आत्मा का हित सुख है, और वह सुख आकुलताके बिना कहा गया है। आकुलता मोक्ष में नहीं है, इसलिए आत्म हितैषियोंको मोक्षमार्ग में लगना चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग हैं। वह मोक्ष मार्ग दो प्रकारका जानना चाहिए—एक निश्चय मोक्ष मार्ग और दूसरा व्यवहार मोक्ष मार्ग। जो यथार्थ स्वरूप है वह निश्चय मोक्ष मार्ग है और जो निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

विशेषार्थ—आत्माका सच्चा हित सुख है क्योंकि संसारके प्राणिमात्र सुखकी ही कामना करते हैं। सच्चा सुख वही है जिसमें लेशमात्र भी आकुलता न हो। सांसारिक सुखोंमें सर्वत्र आकुलता दिखलाई देती है इस लिए उसे सच्चा सुख नहीं माना-

गया है आकुलता एकमात्र मोक्षमें नहीं है, इसलिए सुख मात्रके इच्छुक भव्य जीवोंको मोक्षमार्ग पर चलने का उपदेश दिया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है। इन तीनों का विस्तृत विवेचन आगे इसी ग्रंथमें ग्रन्थकार ने स्वयं ही किया है, इसलिए यहां नहीं लिखा है। सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्रात्मक मोक्षमार्ग को आचार्योंने दो प्रकारका कहा है -एक निश्चय मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहार मोक्ष मार्ग। जो एकमात्र शुद्ध आत्माके आश्रित है, परके संसर्गसे सर्वथा रहित है वह निश्चय मोक्षमार्ग है। जो निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है अर्थात निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त करने का उपाय है, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

अब आगे निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप कहते हैं :—

पर-द्रव्यनितें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है,
आप रूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है।
आप रूप में लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई,
अब व्यवहार मोक्ष-मग सुनिये हेतु नियत को होई ॥२॥

अर्थ— पुद्गल आदि पर-द्रव्योंसे अपने आपको सर्वथा भिन्न समझकर अपनी आत्मामें जो दृढ़ रुचि, प्रतीति श्रद्धान या विश्वास होना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है। अपने आत्मस्वरूपका यथार्थ जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है। अपनी आत्मामें

लीन होकर स्थिर हो जाना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार निश्चय मोक्षमार्गका वर्णन किया। अब व्यवहार मोक्षमार्गका वर्णन करते हैं जो कि निश्चयमोक्षमार्गका कारण है, सो हे भव्य-जीवो! उसे सुनो।

विशेषार्थ—भेदरूप रत्नत्रयको व्यवहार-मोक्षमार्ग और अभेदरूप रत्नत्रयको निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। भेदरूप रत्नत्रय साधन या कारण है और अभेदरूप रत्नत्रय उसका साध्य या कार्य है। सात तत्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं, वे सात तत्व ये हैं, उनका यह स्वरूप है, इत्यादि वचनात्मक कथनको भेद रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग जानना चाहिए। सात तत्वोंका स्वरूप जाननेसे जो आत्माका बोध उत्पन्न होता है, उसमें जो दृढ़ श्रद्धा जागृत होती है, उसमें जो आत्मा की तन्मयता हो जाती है, उसे अभेद रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। यह अवस्था वचन-व्यवहार से परे होती है, इसीलिए इसको अभेद रत्नत्रय कहते हैं। इसी अभेद रत्नत्रयको लाटी संहिताकारने एक प्राचीन पद्यका उद्धरण देकर कहा है कि—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः॥

आत्माका निश्चय ही सम्यग्दर्शन है, आत्माका यथार्थ ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें अवस्थान ही सम्यक्चारित्र

है। इस प्रकारके अभेद-रत्नत्रय से कर्मोंका बन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

व्यवहार मोक्षमार्गको जाने बिना निश्चय मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती है, इसलिए व्यवहार मोक्षमार्गको निश्चय मोक्षमार्ग का कारण कहा है। प्रत्येक तत्व-जिज्ञासु को पहले व्यवहार मोक्षमार्गका आश्रय लेना चाहिए, जिससे कि निश्चय मोक्षमार्गकी प्राप्ति सुलभ हो सके।

अब व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहते हैं—

जीव अजीव तत्व अरु आस्रव बध रु संवर जानो,
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको ज्योंको त्यों सरधानो।
है सोई समकित व्यवहारी अब इन रूप बखानों,
तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दृढ़ प्रतीत उर आनो॥३॥

अर्थ—जिन भगवान् ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वोंका जैसा स्वरूप कहा है, उनका ज्यों का त्यों श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। अब आगे इन सातों तत्वोंका सामान्य अर्थात् सक्षेप रूपसे और विशेष अर्थात् विस्तार रूपसे व्याख्यान किया जाता है, सो उसे हे भव्य जीवो! सुनो और अपने हृदयमें उनका दृढ़ विश्वास लाओ।

अब सबसे पहले जीव तत्वका वर्णन करते हैं :—

बहिरातम अन्तर-आतम परमातम जीव त्रिधा है,
देह जीवको एक गिनै बहिरातम तत्व मुधा है।

उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर-आतम ज्ञानी,
द्विविध संग बिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानी ॥४॥
मध्यम अन्तर-आतम हैं जे देशव्रती अनगारी,
जघन कहे अविरत-समदृष्टी तीनों शिवमग-चारी।
सकल निकल परमातम द्वैविधि तिनमें घाति निवारी,
श्री अरिहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी ॥५॥
ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्ममल-वर्जित सिद्ध महंता,
ते हैं निकल अमल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता।
बहिरातमता हेय जान तज, अन्तर आतम हूजै,
परमातम को ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजै ॥५॥

अर्थ—जीव तीन प्रकारके होते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमें से जो देह और जीवको एक-अभिन्न मानता है, तत्वोंके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता है, मिथ्या-दर्शनसे संयुक्त है, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ से आविष्ट है, वह बहिरात्मा है। जो जिन-प्ररूपित तत्वोंके जानकार हैं, देह और जीवके भेद को जानते हैं, आठ प्रकार के मदों को जीतने वाले हैं, वे अन्तरात्मा कहलाते हैं। ऐसे ज्ञानी अन्तरात्मा उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमें जो चौदह प्रकारके अन्तरंग और दश प्रकार के बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, शुद्ध उपयोगी हैं, आत्माका निरंतर

ध्यान करने वाले हैं, ऐसे मुनि उत्तम अन्तरात्मा हैं। जो अनगारी या श्रावक-व्रतोंके धारण करने वाले आगारी (गृहस्थ) हैं, ग्यारह प्रतिमाओंके धारक हैं, वे मध्यम अन्तरात्मा हैं, जिनेन्द्र चरणों में अनुरक्त अविरत-सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है। ये तीनों ही प्रकारके अन्तरात्मा मोक्षमार्ग पर चलने वाले हैं। जो शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें परमात्मा कहते हैं। वे परमात्मा दो प्रकारके हैं—सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। जिन्होंने चार घातिया कर्मोंको नाश कर दिया है, और जो केवल ज्ञानको प्राप्त कर लोक और अलोक के समस्त पदार्थोंके ज्ञाता दृष्टा हैं, ऐसे समवसरणादि बहिरंग लक्ष्मी और अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरंग लक्ष्मीके धारक श्री अरहंत भगवान सकल परमात्मा हैं। जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म इन तीन प्रकारके कर्मरूप मलसे रहित हैं, ज्ञानरूप शरीर को धारण करते हैं अर्थात् अशरीरी हैं, लोकातिशायी महान् सिद्धपद को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे सिद्ध-परमेष्ठी निकल परमात्मा हैं, जो अनन्तानन्त काल तक अनन्त सुखको भोगेंगे। इस प्रकार जीवके तीनों भेदोंका वर्णन कर ग्रन्थकार भव्यजीवोंको तथा अपनी आत्माको संबोधन करते हुए कहते हैं कि इनमें से बहिरात्मापनेको हेय जान करके छोड़दो, और अन्तरात्मा होकरके निरन्तर परमात्माका ध्यान करो, जिससे निरन्तर अविनाशी अनन्त आनन्दकी प्राप्ति हो।

विशेषार्थ—मध्यम अन्तरात्माके स्वरूपमें 'देशव्रती अनगारी' या 'देशव्रती आगारी' इस प्रकारके दो पाठ मुद्रित या अमुद्रित प्रतियोंमें दृष्टिगोचर होते हैं। छहढालाकार पं० दौलतरामजी को कौनसा पाठ अभीष्ट था, उन्होंने अपने हाथसे लिखी प्रतिमें कौनसा पाठ लिखा था, यह जाननेको हमारे पास कोई साधन नहीं है, तथापि इस विषयमें आगम-परम्पराको देखने पर हमें दोनों पाठोंके साधक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। अमित-गति श्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रह श्रावकाचार, और लाटी-संहिता* आदि ग्रन्थोंमें एक स्वर से साधुको उत्तमपात्र, श्रावकको मध्यम और अविरत सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र या अन्तरात्मा माना है। तदनुसार 'देश-व्रतीआगारी' यह उचित ठहरता है। किन्तु स्वामि-कार्त्तिकेयानुप्रेक्षामें प्रमत्तविरत साधुको भी मध्यम अन्तरात्मा माना है। यथा—

सावयगुणेहिं जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता उवसमसीला महासत्ता ॥१९६॥

अर्थात् जो जिनवचनमें अनुरक्त, मन्दकषायी और महा-पराक्रमी हैं, श्रावकके गुणोंसे संयुक्त हैं, ऐसे श्रावक और प्रमत्तविरत साधु ये मध्यम अन्तरात्मा हैं।

---

*देखो अमितगति श्रावकाचार परि० १० श्लोक ४। सागारधर्मामृत अ० ५ श्लोक ४४। धर्मसंग्रहश्रावकाचार अ० ७ श्लोक १११। लाटीसंहिता स० ६ श्लोक २२२। वसुनन्दिश्रावकाचार गाथा २२३-२२४।

छहढालाकारने उत्तम अन्तरात्माका जो लक्षण छंद-निबद्ध किया है उसमें भी स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षाका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यथा—

पंचमहव्वयजुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिया णिच्चं।
णिज्जिय सयलपमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥ १९५॥

अर्थात जो पंच महाव्रतोंसे युक्त हैं नित्य धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानमें विद्यमान हैं और सकल प्रमादोंके जीतने वाले हैं, वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं।

उक्त गाथाके प्रकाशमें जब हम पं० दौलतरामजी द्वारा निबद्ध उत्तम अन्तरात्माका लक्षण देखते हैं, तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि उत्तम अन्तरात्माके स्वरूपको भी उक्त गाथाके आधार पर ही लिखा गया है। 'द्विविधसंग बिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी' इसमें 'द्विविध संग विन' यह पद 'पंचमहव्वय जुत्ता' के, 'शुध उपयोगी' यह पद 'धम्मे सुक्केवि संठिया णिच्चं' के और 'निजध्यानी' पद 'णिज्जिय-सयलपमाया' के आभारी हैं। इस विवेचनसे यह सारांश निकलता है कि सातवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके साधु तो उत्तम अन्तरात्माकी श्रेणीमें आते हैं और पांचवे गुणस्थानवर्ती श्रावक, तथा छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान वाले मध्यम अन्तरात्मा हैं। इस दृष्टिसे 'देशव्रती अनगारी पद' की सार्थकता सिद्ध होती है। इस प्रकार आगमकी परम्पराको देखते हुए दोनों पाठ उचित प्रतीत होते हैं।

परन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्यने अपने रयणसार नामके पाहुडमें एक गाथा दी है, जिसमें गुणस्थान क्रमसे बहिरात्मा आदि का विभाग किया है। वह गाथा इस प्रकार है:—

मिस्सो त्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा।
संतो त्ति मज्झिमतर खीणुत्तम परम जिणसिद्धा ॥ १४९ ॥

अर्थ—तीसरे मिश्रगुणस्थान तक तारतम्य लिए हुए बहिरात्मा जानना चाहिए। चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा हैं। पांचवें देशविरत गुणस्थानसे लेकर उपशान्तमोह नामक ग्यारवें गुणस्थान तकके जीव मध्यम अंतरात्मा हैं। क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ वीतराग उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं। जिनेन्द्र सर्वज्ञ सकल परमात्मा और सिद्धभगवान् निकल परमात्मा हैं।

इस गाथासे अन्तरात्माके तीनों भेदोंका स्पष्ट विवेचन हो जाता है। यह व्याख्यान दिगम्बर परंपराके प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्दस्वामीका है। इसके पीछे होने वाले आचार्योंने इसी मान्यताको क्यों महत्व नहीं दिया ? इस प्रश्नका उत्तर शायद व्यवहारिक व्यवस्था करना अभीष्ट हो।

मिथ्या-सासादन-मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्य-न्यूनाधिक-भेदेन बहिरात्मा ज्ञातव्यः, अविरतगुणस्थाने तद्योग्याशुभलेश्या-परिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्टः, अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः। सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये

विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात् परमात्मेति। बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, गाथा १४।

अब आगे ग्रन्थकार अजीव तत्वका वर्णन करते हैं:—

चेतनता विन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं,
पुद्गल पंच वरण रस गंध दो फरस वसू जाके हैं।
जिय पुद्गल को चलन सहाई धर्मद्रव्य अनरूपी
तिष्ठत होय अधर्म सहाई जिन बिनमूर्ति निरूपी ॥७॥
सकल द्रव्यको वास जास में सो आकाश पिछानो,
नियत वर्तना निशिदिन सो व्यवहारकाल परिमानो।

अर्थ—जिसमें चेतना नहीं पाई जाती है, उसे अजीव कहते हैं। उसके पांच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमें पांच प्रकारका रूप, पांच प्रकार का रस दो प्रकारकी गंध और आठ प्रकारका स्पर्श ये बीस गुण पाये जाते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं। जो जीव और पुद्गलोंके चलनेमें सहायक है, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं, यह अमूर्त्तिक माना गया है। जो जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायक है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। इसे भी जिन भगवान्ने अमूर्तिक कहा है। जिसमें समस्त द्रव्योंका निवास है, उसे आकाश जानना चाहिए। जो स्वयं परिवर्तित होता है और अन्य परिवर्तन करते हुए द्रव्योंके परिवर्तनमें सहायक होता है, उसे

कालद्रव्य कहते हैं। काल दो प्रकार का है—एक निश्चय काल और दूसरा व्यवहार काल। वर्तना जिसका लक्षण है, उसे निश्चय काल कहते हैं, और घड़ी, घंटा, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, आदिको व्यवहार काल कहते हैं। ये पांचों ही द्रव्य अजीव हैं, इसलिए इनका अजीवतत्त्वके अन्तर्गत वर्णन किया गया है।

इस प्रकार अजीवतत्वका वर्णन कर अब आस्रव आदि शेष तत्त्वोंका वर्णन करते हैं :—

योंं अजीव, अब आस्रव सुनिये मन वच काय त्रियोगा,
मिथ्या अविरति अरु कषाय परमाद सहित उपयोगा ॥८॥
ये ही आतम को दुख-कारण तातैं इनको तजिये,
जीव प्रदेश बंधे विधिसों सो बंधन कबहुं न सजिये।
शम-दमतैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये,
तप बलतैं विधि झरन निर्जरा ताहि सदा आचरिये ॥ ९ ॥
सकल कर्मतैं रहित अवस्था सो शिव थिर सुखकारी,
इहविध जो सरधा तत्वनिकी सो समकित व्यवहारी।
देव जिनेन्द्र, गुरू परिग्रह बिन धर्मदयायुत सारो,
यहू मान समकित को कारण अष्ट अंगजुत धारो ॥१०॥

अर्थ—इस प्रकार अजीवतत्वका वर्णन किया, अब आस्रव-तत्वका वर्णन करते हैं, सो उसे सुनिये :—

मन वचन और काय इन तीनों योगों की हलन-चलनरूप क्रियाके द्वारा जो कर्मोंका आना होता है, इस आस्रवके ५ भेद हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांचों ही कर्मोंके कारण होनेसे आत्माके दुःखके कारण हैं, इसलिए इन्हें छोड़देना चाहिए। जीवके प्रदेशोंको कर्म-परमाणुओं से बंधनेको बंध कहते हैं, सो यह बंध भी नहीं करना चाहिए। शम अर्थात् कषायोंके शान्त करनेसे और दम अर्थात् इन्द्रिय-विषयों के जीतनेसे कर्मोंका आना रुकता है यही संवर कहलाता है, इसका सदा आदर करना चाहिए अर्थात् इसे धारण करना चाहिए। तपो बलसे जो कर्म झड़ते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं, उसका सदा आचरण करना चाहिए। समस्त कर्मोंसे रहित जो आत्माकी शुद्ध दशा प्रकट होती है, उसे मोक्ष कहते हैं, वह स्थिर और अविनाशी सुखको करने वली है। इस प्रकार सातों तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी जिनभगवान ही सच्चे देव हैं, परिग्रह-आरंभसे रहित, ज्ञान ध्यानमें परायण पुरुष ही सच्चे गुरु हैं और दयामयी धर्म ही सच्चा धर्म है। इन तीनों को भी सम्यग्दर्शनका कारण जानना चाहिए और आगे कहे जाने वाले आठ अंगोंके साथ इस सम्यग्दर्शनको धारण करना चाहिए।

विशेषार्थ—कर्मोंके आनेका मूल कारण यद्यपि तीनों योगों की चंचलता है। योगोंकी चँचलता जिस परिमाण में अधिक होगी उसी परिमाणमें कर्मोंका आस्रव अधिक होगा तथापि

जिस जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद आदि बंधके कारण जितने अधिक होंगे, उतनी ही अधिक कर्म प्रकृतियों का उसके आस्रव और बन्ध होगा। मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यादर्शन आदि पांचों ही बंधके कारण पाये जाते हैं, इसलिए उसके आठों कर्मोंकी बंध योग्य यथासंभव सभी (११७) प्रकृतियोंका आस्रव और बंध होता है। किन्तु जब जीव मिथ्यादृष्टिसे सम्यग्दृष्टि बन जाता है, तब व्रतादिक को नहीं धारण करने पर भी उसके केवल ७७ प्रकृतियोंका आस्रव और बंध रह जाता है। १–मिथ्यात्व, २–हुंडकसंस्थान ३–नपुंसकवेद, ४–नरकगति, ५–नरकगत्यानुपूर्वी, ६–नरकआयु, ७–असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन ८–एकेन्द्रियजाति, ९–द्वीन्द्रिय-जाति, १०–त्रीन्द्रियजाति, ११–चतुरिन्द्रिय, १२–स्थावर-नामकर्म, १३–आतप, १४–सूक्ष्म, १५–अपर्याप्त, १६–साधारण, १७–अनन्तानुबंधीक्रोध, १८–मान, १९–माया, २०–लोभ, २१–स्त्यानगृद्धि, २२–निद्रानिद्रा, २३–प्रचलाप्रचला २४–दुर्भग, २५– दुःस्वर, २६–अनादेय, २७–न्यग्रोध संस्थान, २८–स्वातिसंस्थान, २९–कुब्जकसंस्थान, ३०–वामन संस्थान, ३१–वज्रनाराचसंहनन, ३२–नाराचसंहनन ३३–अर्द्धनाराचसंहनन, ३४–कीलितसंहनन, ३५–अप्रशस्त-विहायोगति, ३६–स्त्रीवेद, ३७–नीचगोत्र, ३८–तिर्यग्गति, ३९–तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, ४०–तिर्यगायु और ४१–उद्योत, इन इकतालीस पाप प्रकृतियोंका उसके आस्रव और बंध रुक जाता है। अर्थात् व्रत रहित सम्यग्दर्शन होने मात्रसे ही यह जीव नरकगति

और तिर्यञ्चगतिमें उदय आने योग्य-फलदेनेवाली किसी भी कर्मप्रकृतिका बंध नहीं करता है। इन्हीं इकतालीस प्रकृतियोंके बंध नहीं होनेके कारण सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नरकगति और तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न नहीं होता है।

अहो, सम्यग्दर्शनका कितना बड़ा माहात्म्य है कि उसके प्राप्त होते ही यह जीव एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होता, नारकी और कर्मभूमिके तिर्यञ्चोंमें नहीं पैदा होता। मनुष्यगति में जानेपर भी लूला, लंगड़ा, बहिरा, गूंगा, हीनांगी या अधिकांगी नहीं पैदा होता। अल्प आयुका धारक नहीं होता, दीन, दरिद्री, रोगी, शोकी और कुटुम्ब-परिवारसे हीन नहीं होता। अभागी नहीं होता, नपुंसक या स्त्री नहीं बनता। कुबड़ा, बौना या हुंडकसंस्थानवाला और हीनसंहननवाला नहीं होता, किन्तु वज्र-वृषभनाराचसंहनन और समचतुरस्र संस्थानका धारक होता है, महान् सौभाग्यशाली, विभव-सम्पन्न, महापुरुषार्थी और कामदेवके समान सुन्दर शरीरका धारक मनुष्य होता है। यदि सम्यग्दृष्टि जीव देवगति में जावे, तो वहां भी वह भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न नहीं होता, नियमसे कल्पवासी ही पैदा होता है उनमें भी आभियोग्य, किल्विषिक आदि नीच जातिका देव नहीं होता, किन्तु इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि महान् ऋद्धिधारी देवोंमें उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शनकी महिमा में आचार्योंने बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे हैं। इसे ही धर्मरूपी वृक्षकी

जड़ (मूल) कहा है, मोक्षरूप महलकी पहली सीढ़ी कहा है। इसे ही परमपुरुषार्थ, परमपद, परंज्योति, आदि अनेकों नामोंसे स्तवन किया है* ।

इसे ही इष्ट अर्थ की सिद्धि, अक्षातीत सुख और कल्याण की परम्परा माना है। इस सम्यग्दर्शन के धारण करने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता है, न कष्ट सहन ही करना पड़ता है। इसकी प्राप्ति कितनी सीधी और सरल है कि जितना सरल और कोई लौकिक कार्य भी नहीं हो सकता। संसार के प्रत्येक कार्यके लिए महान् परिश्रम उठाना पड़ता है, रात-दिन एक करना पड़ता है, तब कहीं कोई लौकिक कार्य सिद्ध होता है। परन्तु सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिको क्या चाहिए ? मिथ्यात्व और मूढ़ताओंको छोड़ दीजिए और अपनी तीव्रकषायोंको मंदा कर लीजिए। शान्तिके साथ आत्मस्वरूपको समझनेकी कोशिश कीजिए, सात तत्वोंका ज्ञान प्राप्त कीजिए और सच्चे देव, शास्त्र, गुरुको पहचान कर उन पर विश्वास कीजिए कि ये ही हमारे

---

*सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् ।
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलं धर्मतरोरिव ॥१॥
तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम् ।
तदेव परमं ज्योतिस्तदेव परमं तपः ॥२॥
तदेवेष्टार्थसंसिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथः
अक्षातीतं सुखं तत्स्यात्तत्कल्याणपरंपरा ॥३॥
लाटी संहिता तृतीयसर्ग ।

हितैषी हैं, इनके बतलाये मार्ग पर चलने पर ही हमारा हित है। अन्य कुदेवादि हमारे हितैषी नहीं हो सकते, क्योंकि वे सरागी हैं, राग, द्वेष, मोह, मद, छल, प्रपंच और ईर्ष्यासे परिपूर्ण हैं। और इसीलिए इन कुगुरु, कुदेवादिके कहे वचन भी माननेके योग्य नहीं हैं, जो स्वयं असन्मार्ग पर चल रहे हैं, वे कैसे औरके उद्धारक और समुत्तारक हो सकते हैं? ऐसा जानकर कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और कुकार्यका सेवन छोड़कर सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और धर्मका विश्वास करना चाहिए और शक्तिके अनुसार उनके बतलाये मार्ग पर चलना चाहिए। तथा आगे कहे जाने वाले आठ अंगों को अवश्य धारण करना चाहिए तभी जाकर व्यवहार सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होगी। जब जीवके इस व्यवहार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है तो निश्चय सम्यग्दर्शन की योग्यता उसमें सहज ही उत्पन्न हो जाती है, फिर उसके लिए पृथक परिश्रम नहीं करना पड़ता।

जिस प्रकार एक सम्यग्दर्शनके प्रकट होतेही ऊपर बतलायी गईं ४१ कर्म-प्रकृतियोंसे छुटकारा मिल जाता है, उसी प्रकार अविरति प्रमाद आदि दूर होते ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्ति, अरति, शोक, इत्यादि प्रकृतियोंका भी बंध छूट जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों कर्म-बंधके कारण दूर होते हैं, त्यों-त्यों आत्मा कर्म-प्रकृतियोंके बंधनोंसे छूटता जाता है। इस प्रकार आगे

आगे ज्यों-ज्यों शम और दम भाव जाग्रत होते जाते हैं, त्यों त्यों कर्मों का आस्रव रुकता जाता है अर्थात् संवर प्रकट होता जाता है। इसी शम और दमके साथ जीव जब अपनी की हुई पूर्व पाप-प्रवृत्तियोंको देखकर उन का पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करता है, उस पापको शुद्ध करनेके लिए तप धारण करता है तब उसके प्रति समय एक बहुत बड़े परिमाण में पूर्व-बद्ध संचित कर्म झगड़े लगते हैं अर्थात् आत्मासे दूर होने लगते हैं, इसीको निर्जरा कहते हैं।

धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों तपस्या बढ़ती जाती है, आत्म-विवेक जागृत होता है, त्यों-त्यों कर्मों की निर्जरा भी असंख्यात गुणित क्रमसे होने लगती है और कुछ कालके पश्चात् एक वह समय आता है, जब आत्मा सर्व कर्मोंसे परिक्षीण हो जाता है, आत्माके प्रदेशों पर कहीं भी एक कर्म परमाणु बंधा नहीं रह जाता है, तब वह इस पौद्‌गलिक शरीरको छोड़कर सिद्धालयमें जा विराजता है और यही मोक्ष कहलाता है। इस अवस्थाके पा लेनेपर जीव अजर, अमर हो जाता है, अक्षय, अव्याबाध और अनन्त सुखको प्राप्त कर लेता है और आगे अनन्तकाल तक ज्योंका त्यों निर्विकार, शुद्ध चिदानन्द अवस्थामें विद्यमान रहता है। इस प्रकारसे सातों तत्वोंके यथार्थ श्रद्धानको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। देव, शास्त्र, गुरु और धर्मकी श्रद्धा इस व्यवहार सम्यग्दर्शनका प्रधान कारण है, और उसकी प्राप्ति

और पूर्णताके लिए आगे कहे जाने वाले आठ अंगोंका धारण करना आवश्यक है।

सम्यग्दर्शनको धारण करनेके साथ ही उसे निर्दोष पालन करना चाहिए। जिन दोषोंके कारण सम्यग्दर्शनमें निर्मलता नहीं आती है, वे दोष २५ होते हैं। ग्रन्थकार अब उनका वर्णन करते हैं:—

वसु मद टारि निवारि त्रिशठता षट अनायतन त्यागो,
शंकादिक वसु दोष विना संवेगादिक चित पागो।
अष्ट अंग अरु दोष पचीसों अब संक्षेपै कहिए,
विन जाने तें दोष गुनन को कैसे तजिए गहिए ॥११॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी निर्मलताके लिए कुलमद, जातिमद, रूपमद, ज्ञानमद, धनमद, बलमद, तपमद और प्रभुतामद, इन आठ मदोंको नहीं करना चाहिए। देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता इन तीनों मूढ़ताओंको दूर करना चाहिए। कुगुरु, कुदेव, और कुधर्म इन तीनोंके सेवक, इन छहोंको अनायतन अर्थात् अधर्मके स्थान कहते हैं। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिए इनका भी त्याग आवश्यक है। उक्त छह अनायतनों की प्रशंसा-स्तुति वगैरह नहीं करना चाहिए। आगे कहे जाने वाले आठ अंगोंके विपरीत आचरणसे शंका आदि आठ दोष उत्पन्न होते हैं, उनका भी त्याग करना चाहिए। इस प्रकार २५ दोषोंका त्याग कर प्रशम, संवेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन गुणोंको

हृदयमें धारण करना चाहिए। अब आठ अंग और २५ दोषोंके स्वरूप संक्षेपसे कथन करते हैं, क्योंकि, दोष और गुणोंको जाने विना कोई भी पुरुष दोषोंको तो कैसे छोड़ सकेगा और गुणोंको कैसे ग्रहण कर सकेगा।

विशेषार्थ—अहंकार करनेको मद कहते हैं। मूर्खता और अज्ञानतापूर्ण कार्यको मूढ़ता कहते हैं। अधर्मके स्थानको अनायतन कहते हैं इनके भेदों का स्वरूप आगे ग्रन्थकार स्वयं कहेंगे। जिन भगवानके वचनोंमें उनके बतलाये तत्वोंमें या धर्ममें शंका करना कि यह सच है, या झूठ, इसके पालन करनेसे मुक्ति मिलेगी या नहीं; इस प्रकार का संदेह करना शंका दोष है। धर्मको धारण करके उसके फलसे सांसारिक सुखों की इच्छा करना कांक्षा दोष है। धार्मिक जनोंके शरीरको, उनके मैले कुचैले वेष-भूषाको देखकर ग्लानि करना, किसी अपंग, लंगड़े-लूले को देखकर घृणा करना विचिकित्सा दोष है। सत्य-असत्यका निर्णय न करके यद्वा तद्वा विश्वास कर लेना मूढ़ता है। दूसरों के दोष और अपने गुण प्रकट करना अनुपगूहन दोष है। लौकिक लालसाके वश होकर सत्य मार्गसे गिरते हुए लोगोंको उसमें स्थिर नहीं करना या उनकी उपेक्षा करना अस्थितिकरण दोष है। गुणी और धर्मात्मा पुरुषोंको देखकर भी प्रमुदित नहीं होना, आनन्दित और उल्लासित नहीं होना अवात्सल्य दोष है। सामर्थ्यवान होकर भी सत्यमार्गकी संसारमें प्रभावना नहीं करना, अज्ञानके नाशके लिए प्रयत्न नहीं करना अप्रभावना दोष

है। सम्यग्दर्शनके धारकोंका परम कर्त्तव्य है, कि वे इन आठों दोषोंको दूर करें।

सम्यग्दर्शनमें निर्मलता बढ़ाने के लिए प्रशम संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों को और भी धारण करना चाहिए। रागद्वेष आदिकी अत्यन्त कमी को प्रशम कहते हैं❀ यदि किसीने बड़ा भी अपराध कर दिया है, तो भी उससे बदला ले लेने का भाव नहीं होना, प्रशम गुण हैं* इस गुण के प्रभावसे आत्मा में परम शान्ति जागृति होती है। यद्यपि सम्यग्यदृष्टि जीव को भी आरम्भादिके निमित्तसे कभी कदाचित् उत्तेजना या कषायोद्रेक हो जाता है, तथापि वह अल्पकालस्थायी होता है उसमें कषायों की तीव्र वासना नहीं होती है, इसलिए उसके प्रशम गुणका विनाश नहीं होता है।

संसारसे भयभीत रहना, उसमें आसक्त नहीं होना सो संवेग कहलाता है♥। किसी आचार्यने धर्म और धर्म के फलमें परम उत्साह रखने को भी संवेग कहा है, साधर्मी जनोंमें अनु-

---

❀रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः। सर्वार्थसिद्धि. अ. १ सू० २

*प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥७१॥
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुजित्।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥७२॥
लाटी संहिता सर्गः ३.

♥संसाराद् भीरुता संवेगः। सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र २.

राग और पंच परमेष्टीमें भक्ति या प्रीतिको भी संवेग माना है❀। इस गुणके ही कारण सम्यग्दृष्टि जीवमें अनासक्ति भाव जागृत होता है और वह सांसारिक कार्योंमें उदासीन और पारमार्थिक कार्योंमें सोत्साह रहने लगता है। प्राणिमात्र पर मैत्री भाव जागृत होने को अनुकम्पा कहते हैं*। इस गुणके प्रकट हो जानेसे सम्यग्दृष्टि जीवको दूसरों के दुःख अपने ही प्रतीत होने लगते हैं वह दूसरों के दुःख देखकर अनुकंपित हो उठता है, तिलमिला जाता है और उन्हें दूर करने का शक्तिभर प्रयत्न करता है। इसी गुणके प्रगट होनेसे सम्यग्दृष्टिका कोई शत्रु नहीं रहता, सब मित्र बन जाते हैं और इसी कारण वह निःशल्य हो जाता है✔। इसी गुणके कारण सम्यग्दृष्टि जीव अन्याय और मांसादि अभक्ष्यसेवन से विमुख हो जाता है।

इहलोक, परलोक, पुण्य, पाप और जीवादि तत्वोंके सद्भावमें अस्तित्व बुद्धिका होना सो आस्तिक्य है‖। इस गुणके प्रगट

❀संवेगः परमोत्साहो, धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥७६॥
लाटी संहिता सर्ग ३.

*सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा। सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र २

✔अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रभावोऽथ माध्यस्थ्यं निःशल्यं वैरवर्जनात् ॥८६॥
लाटी संहिता सर्ग ३.

‖जीवोदयोऽर्थो यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम्।
सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र २.

होनेसे मनुष्यमें नास्तिकपना नहीं रहता। इसी गुण के प्रभावसे सम्यग्दृष्टि सातों प्रकार के भयोंसे विमुक्त होकर निर्भय बन जाता है। उसे इस बात पर दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मैं तो अजर अमर हूँ, न अस्त्र-शस्त्रोंसे मैं छिन्न-भिन्न किया जा सकता हूँ, न अग्निसे जलाया जा सकता हूँ और न अन्य किसी रोगादि से मेरा विनाश हो सकता है। जो पाप कर्म मैंने पूर्वभवमें नहीं किए हैं, तो उनका फल मुझे मिल नहीं सकता है और जो किये हैं तो उनका फल मिलनेसे छूट नहीं सकता। लिया हुआ कर्म रूपी कर्ज तो अवश्य ही चुकाना पड़ेगा। फिर कर्मों के फलको भोगनेसे भय क्यों? इस प्रकारके विचार प्रगट हो जानेसे सम्यग्दृष्टि जीव बड़ेसे बड़ा उपद्रव, रोग, उपसर्ग और परिषह आजाने परभी निर्भय रहता है।

अब सम्यग्दर्शनके आठ अङ्गों को कहते हैं—

जिन-वचमें शंका न धार वृष भव-सुख-वांछा भानै,
मुनि-तन देख मलिन न घिनावै तत्व कुतत्व पिछानै।
निज-गुण अरु पर-औगुन ढांकै वा निज धर्म बढ़ावै,
कामादिक कर वृषतैं चिगते निज-परको सु दिढ़ावै॥१२
धर्मीसों गौवच्छ प्रीति सम कर निजधर्म दिपावै,
इन गुणतैं विपरीत दोष वसु तिनकों सतत खिपावै॥

अर्थ—जिन भगवान के वचनों में शंका नहीं करना निःशंकित अङ्ग है। धर्म को धारण करके संसार के सुखों की इच्छा

न करना निःकांक्षित अङ्ग है। मुनिके शरीरको मैला देख करके घृणा न करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है। साँचे और झूठे तत्वोंकी पहिचान करना अमूढ़दृष्टि अङ्ग है। अपने गुणोंको और पराये औगुणोंको ढकना और अपने धर्मको बढ़ाये रहना सो उपगूहन अङ्ग है। काम-विकार आदि कारणों से धर्म से डिगते हुये अपने आपको और दूसरे मनुष्योंको पुनः उसमें दृढ़ करना सो स्थिति-करण अङ्ग है। साधर्मी जनोंसे बछड़े पर गायके समान प्रेम करना सो वात्सल्य अङ्ग है। जैन धर्म का संसारमें प्रकाश फैलाना सो प्रभावना अङ्ग है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके आठ अङ्गोंका संक्षेपमें वर्णन किया। इन गुणोंसे विपरीत आचरण करने पर शंकाआदि आठ दोष उत्पन्न होते हैं, उन्हें सतत दूर करना चाहिए।

विशेषार्थ—धर्मका मूल आधार सम्यग्दर्शन है और इस सम्यग्दर्शनका भी मूल आधार उसके आठ अंगोंको बतलाया गया है। जिस प्रकार किसी सुन्दर मकानके आधारभूत आठ खंभे होते हैं, अथवा शरीरके जैसे आठ अंग बतलाये गये हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भी आठ अंग बतलाये गए हैं। आचार्योंने आठों अंगोंकी समग्रता पर जोर देते हुए कहा है कि जिस प्रकार एक अक्षरसे भी हीन मंत्र विषकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता उसी प्रकार एक भी अंगसे हीन सम्यग्दर्शन संसारका उच्छेद नहीं कर सकता*।" इसलिए सम्यग्दृष्टिको

*रत्नकरंड श्रावकाचार

आठों अंगों का पालन करना आवश्यक है । उनका विशेष स्वरूप इस प्रकार है ।

१ निःशंकित अंग—स्व-पर विवेक-पूर्वक जब हेय और उपादेय तत्वोंका पूर्ण निश्चय हो जाता है, तब सन्मार्ग पर जो निश्चयात्मक दृढ़ प्रतीति या श्रद्धा होती है, उसे ही निःशंकित अंग कहते हैं। इस अंगके प्रभावसे सम्यग्दृष्टि जीव १–इहलोकभय २–परलोकभय, ३–वेदनाभय, ४–अत्राणभय, ५ अगुप्तिभय, ६–मरणभय और ७–आकस्मिकभय, इनसात भयोंसे विमुक्त हो जाता है। इसलोक सम्बन्धी परिस्थितियोंसे घबड़ाने को इहलोक-भय कहते हैं। मेरे इष्ट वस्तुका वियोग न होवे, अनिष्ट वस्तुका संगम न होवे, दैव कभी दरिद्र न बना देवे, इत्यादि प्रकारकी मानसिक चिन्ताओंसे जैसे मिथ्यादृष्टि जीव चिन्तित रहता है, उस प्रकार सम्यग्दृष्टि चिन्तित नहीं रहता, क्योंकि वह तो इस लोक-सम्बन्धी समस्त वस्तुओंको पर और विनश्वर जानता है, तथा अपने शुद्ध चिद्रूपको स्व और अविनश्वर मानता है*। परभव-सम्बन्धी पर्यायसे भयभीत होनेको परलोकभय कहते हैं। इस भयके कारण जीव सदा उद्विग्न रहता हुआ सोचा करता है कि न मालूम मैं मरकर किस गतिमें जाऊंगा ? मेरा

---

*लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोऽर्थतः ।
नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥३८॥
आत्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।
इहलोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥३९॥

स्वर्गमें ही जन्म हो, नरकादि दुर्गतिमें मेरा जन्म न हो* । परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष इस भयसे बिलकुल विमुक्त रहता है, क्योंकि वह जानता है के दुष्कर्म का फल परभवमें दुर्गति है । जब मेरा जीवन पवित्र है, तो मैं दुर्गतिमें क्यों जाऊंगा ? शारीरिक पीड़ा, रोग व्याधि, और मानसिक चिन्ता आधि आदिकी पीड़ा से भयभीत होनेको वेदनाभय कहते हैं । इस भयके कारण जीव सोचा करता है कि मैं नीरोग बना रहूँ, मेरे कभी कोई वेदना न हो❤ । पर सम्यग्दृष्टि तो अपनी आत्माको सर्व प्रकारकी आधि-व्याधियोंसे रहित मानता है और इसीलिए उसे वेदना-भय नहीं होता । मेरा कोई रक्षक नहीं, मुझे इस आपत्तिसे बचाने वाला कोई नहीं, इस प्रकारके अरक्षासम्बन्धी भयको अत्राण-भय कहते हैं । अपने और अपने कुटुम्ब आदिकी रक्षाके उपायभूत दुर्ग, गर्भालय, गढ़, कोट, आदिके अभावसे उत्पन्न होने वाले भयको अगुप्तिभय कहते हैं■ । मौतसे डरनेको मरण-

*भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके मा भून्मे जन्म दुर्गतौ ।
इत्याद्याकुलितं चेत: साध्वसं पारलौकिकम् ॥४१॥

❤वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पोऽस्य मोहाद्वा परिदेवनम् ॥४८॥
उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥४६॥
लाटी संहिता सर्ग ४

■आत्मरक्षणोपायदुर्गाद्यभावात्मकमगुप्तिभयम् ।
भावप्राभृत गा० ७७ की टीका.

भय कहते हैं। बिजली का गिरना, भूकम्पका होना आदि आकस्मिक कारणोंसे जो भय होता है उसे आकस्मिकभय कहते हैं❤। सम्यग्दृष्टि जीव यथार्थ वस्तु-स्वरूपको जाननेके कारण इन सब भयोंसे मुक्त रहता है।

२ निःकांक्षित अंग—धर्म सेवन करते हुए उसके फलसे इस जन्ममें लौकिक विभव-सम्पत्ति आदिकी इच्छा न करना और परभवमें नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती आदि होने की इच्छा न करना, भोगों की अभिलाषा न करना निःकांक्षित अंग है। सांसारिक सुख भोग आदि कर्मके परवश हैं, अन्त करके सहित हैं, शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे जिसका उदय व्याप्त है और पापका बीज है, ऐसे सुखकी इच्छा न करना ही श्रेष्ठ है, इस प्रकारके विचार जागृत हो जाने से सम्यग्दृष्टि इहलोक और पर लोक सम्बन्धी भोगोपभोगोंकी आकांक्षासे दूर रहता है★।

❤अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम्।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥६६॥
लाटी संहिता सर्ग ४

★इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकांतवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥
पुरुषार्थ द्धसियुपाय

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥
रत्नकरंड श्रावकाचार

इहलोक-परलोकभोगोपभोगाकांक्षा-निवृत्तिनिष्कांक्षित्वम्।
भावपाहुड टीका गा० ७७.

३ निर्विचिकित्सा अंग—यह शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है, किन्तु रत्नत्रयके धारण करने से वह भी पवित्र माना जाता है, अतएव रत्नत्रयके धारक साधु-सन्तोंके शरीर को मैला-कुचैला देखकर ग्लानि नहीं करना, प्रत्युत उनके गुणोंमें प्रीति करना निर्विचिकित्सा कहलाती है। भूख, प्यास, शीत, उष्ण, आदि नाना प्रकारके भावोंके विकृति कारक संयोगोंके मिलने पर भी चित्तको खिन्न नहीं करना और मल-मूत्रादि पदार्थोंमें वस्तुस्वभावको विचार कर ग्लानि नहीं करना भी निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष रोगी, शोकी एवं मलिन पुरुषको देखकर उससे घृणा नहीं करता है, बल्कि उसकी वैयावृत्य करनेको तैयार होता है* ।

४ अमूढ़दृष्टि अंग—लौकिक प्रपंच-वर्धक रूढ़ियोंमें, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु और कुधर्ममें अपनी दृष्टिको मूढ़ता रहित करना,

---

*स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥
रत्नकरंड श्रावकाचार

क्षुत्तृष्णा-शीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

शरीरादौ शुचीति मिथ्यासंकल्परहितत्वं निर्विचिकित्सता ।
मुनीनां रत्नत्रयमंडितशरीरमलदर्शनादौ निशूकत्वं तत्र
समाढौक्य वैयावृत्यविधानं वाविचिकित्सता ।
भावपाहुड टीका गा० ७७ ।

कुमार्ग और कुमार्ग पर चलने वाले पुरुषों को मन-वचन-कायसे अनुमोदना, प्रशंसा, सराहना, आदि न करना सो अमूढ़दृष्टि अंग है‡। इस अंगके धारक सम्यग्दृष्टि पुरुषको लोकमूढ़ता देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता ये तीनों मूढ़ताएं अवश्य छोड़ना चाहिए। धर्म मानकर नदी-समुद्र आदिमें स्नान करना, वालू पत्थर वगैरहके ढेर लगाना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें प्रवेश करना*, सूर्य को अर्घ देना, अग्नि की पूजा करना, गायके मूत्रका सेवन करना, गोबरको पवित्र मानना, मकान की देहली आदि को पूजना, घरकी पूजा करना, रत्न, घोड़ा, हाथी, शस्त्र आदिकी पूजा करना, मकरसंक्रान्ति आदिके समय तिलके स्नानसे उसके दानसे पुण्य मानना, सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहण समय दान देना, संध्या समय ही मौन धारण करनेमें धर्म मानना ये सब लोक-

---

‡लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्वरुचिना कर्त्तव्यममूढ़दृष्टित्वम्॥

पुरुषार्थसि०

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्त्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते॥

रत्नकरंड श्रा०

*आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥

रत्नकरंड श्रा०

मूढ़ता ही है। सम्यग्दृष्टिको इनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए।

किसी वर पानेकी इच्छासे आशावान् होकर राग-द्वेषसे मलीमस देवताओं की पूजा-उपासना करना सो देवमूढ़ता है। मोहरूपी मदिराके पान करनेसे मत्त, नाना प्रकारके कुत्सित वेषों के धारण करने वाले और अन्य मतावलंबियोंसे परिकल्पित ब्रह्मा, उमापति, गोविन्द, शाक्य, चन्द्र, सूर्य, आदिकमें आप्त बुद्धि करना, उन्हें अपनी आत्माका उद्धारक सच्चा देव मानना, ये सब देवमूढ़ता है।

सूर्यार्घो बह्निसत्कारो गोमूत्रस्य निषेवणम्।
तत्पृष्ठांतनमस्कारो भृगुपातादिसाधनम्॥
देहलीगेहरत्नाश्वगजशस्त्रादिपूजनम्।
नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं पुण्यहेतवे॥
संक्रांतौ च तिलस्नानं दानं च ग्रहणादिषु।
संध्यायां मौनमित्यादि त्यज्यतां लोकमूढतम्॥

संस्कृतभावसंग्रह

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते॥

रत्नकरंड श्रावकाचार

ब्रह्मोमापतिगोविंदशाक्येन्दुतपनादिषु।
मोहकादम्बरी मत्तेष्वाप्तधीर्देवमूढ़ता॥

योगशास्त्र. ४६.

आरंभी, परिग्रही और हिंसादि पापाचरण करने वाले, संसार रूप समुद्रकी भंवरमें डुबकियाँ लेने वाले, पाखण्डी ढोंगी और नानावेषके धारक कुगुरुओंका आदर-सत्कार करना सो पाखण्डि मूढ़ता है। इसको ही गुरुमूढ़ता भी कहते हैं*। चौथे अङ्ग के कारण सम्यग्दृष्टि को उक्त तीनों मूढ़तायें छोड़ देना चाहिये।

किसी मनुष्यके बीमार होने पर बीमारी के अनुसार उसका इलाज न कराकर बीमारी को दूर कराने के लिए शीतला को माता मानकर जल चढ़ाना, दुर्गापाठ करना, मूर्त्तियों का चरणोदक सिरसे लगाना मन्त्र जाप करना आदि सब मूढ़ता ही है। फिर भले ही ये काम महावीर या पार्श्वनाथ को आधार बनाकर किये जांय, या बुद्ध विष्णु, शिव पार्वती, पद्मावती आदि किसी देवी देवता आदिको आधार बना कर किये जायं। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि बीमारी इत्यादिको दूर करनेके लिए जिन-भगवान की या अपने इष्ट देवकी पूजा अर्चा आदिमें कुछ दोष नहीं है, किन्तु दूसरे देवों की या कुदेवों की पूजा उपासनामें दोष है। परन्तु यह उनकी भूल है। रोग आदिके दूर करनेके लिये देवपूजा आदिको इसलिये मूढ़ता कहा है कि उन देवोंका बीमारीके रहने या जानेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। बीमारियाँ देवताओंके

---

*सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्त वर्तिनाम्।
पाखंडिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखंडिमोहनम्॥
रत्नकरंडश्रावकाचार

कोपसे न होती हैं और न उनकी प्रसन्नता से जाती हैं, इसलिये बीमारी आदिको दूर करने के लिए देवताओं की पूजा करना मूढ़ता ही है।

शंका—कष्टके समय प्रत्येक मनुष्य भगवानका नाम लेता है, गुरुओं और महात्माओंका स्मरण करता है और यदि वह समर्थ होता है, तो विशेषरूपमें धार्मिक क्रिया, दान, पूजा आदि भी करता है। इस प्रकारकी शुभप्रवृत्तिको मूढ़ता कहना उचित नहीं।

समाधान—आपत्तिके समय भगवानका नाम लेना, या विशेष धार्मिक कार्य करना बुरा नहीं है, क्योंकि उससे आपत्ति को सहन करनेकी शक्ति आती है। इतना ही नहीं, बल्कि आपत्तिमें इस प्रकारकी भावनाओंसे पुराने अपराधों का पश्चात्ताप होता है, शत्रुओं की तरफभी प्रेमभाव जागृत होता है और समताकी भावना भी उत्पन्न होती है। परन्तु उसे रोगको दूर करनेकी चिकित्सा समझना मूढ़ता है।

शंका—मूढ़ता तो अधर्म है अधर्म वही है, जो स्व-परको दुखदायक हो। रोग, आपत्ति, उपसर्ग आदिको दूर करनेके लिए यदि कोई देवपूजा, मंत्रजाप आदि करता है, तो इससे उसे या दूसरेको क्या कष्ट होता है?

समाधान—रोग आदि अनिष्ट आपत्तियोंको देवताओंकी कृपा-अकृपा पर अवलम्बित समझ लेनेसे वास्तविक चिकित्सा

पर उपेक्षा हो जाती है। सच्चा इलाज न होनेसे रोगके भयंकर होनेका भय रहता है और ऐसी सैकड़ों घटनाएं प्रतिदिन होती रहती हैं। इतना ही नहीं, इसी मूढ़ताकी वेदीपर सैकड़ों बच्चों का प्रतिदिन बलिदान होता रहता है। इस प्रकार यह मूढ़ता जिनके पास है, उन्हें दुःखदायी है, उनके आश्रित बच्चों, तथा कुटुम्बियों का बलिदान लेनेसे उन आश्रितों को दुःखदायी है, तथा जो पड़ौसी या परिचित जन मूढ़ता वाले पुरुषों की बातों पर विश्वास करते हैं, उनको दुःखदायी है। इस प्रकार यह स्व-पर दुःखदायी होनेसे अधर्म है, मूढ़ता है।

शंका—देवपूजा, मंत्र जाप आदिसे रोग-शान्ति और उपद्रव दूर होनेकी बात अकारणक नहीं है, क्योंकि देवपूजा आदिसे पुण्यका बंध होता है और पुण्य-बंधसे पाप का नाश होता है या उसका उदय निस्तेज हो जाता है। जब पाप रूप कारण दूर होगा, तब दुःखरूप कार्य भी दूर होगा, इस प्रकार देवपूजा, मंत्र जाप आदिका रोगादि-नाशकपना सिद्ध होता है।

समाधान—देवपूजा, मंत्र-जाप आदिसे भविष्यके दुःखका नाश हो सकता है, वर्तमान का नहीं। देव-पूजादिसे पुण्यबंध होता है, संचित कर्मका नाश नहीं। भविष्यमें ऐसा दुःख फिर न भोगना पड़े, इसके लिए पूजादि का उपयोग किसी तरह कहा गया, तो ठीक है, किन्तु उसका प्रभाव वर्तमानमें फल देने वाले कम पर नहीं पड़ता। उसके लिये तो उचित तपकी आवश्यकता है। तपसे ही संचित कर्मों की निर्जरा होती है,

रोग, उपसर्ग आपत्ति आदि दूर होते हैं, इसलिए रोगादिके समय पुण्यास्रवके कारणों में न पड़कर कर्म-निर्जराके कारणों का अचरण करना लाभदायक है। देवपूजा आदि पुण्यास्रवके कारण हैं और उसका फल लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय की प्राप्ति है। अतएव रोगादिके समय पूजा पाठ करना, अनिष्ट ग्रहोंकी शान्तिके लिए मंत्रजाप आदि कराना मूढ़ता ही है। सम्यग्दृष्टि को सर्वत्र अमूढ़दृष्टि होना चाहिए।

५ उपगूहन अंग—दूसरोंके दोषों को और अपने गुणोंको प्रकट न करना तथा अपने धर्मको बढ़ाना उपगूहन अंग है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय और पंचाध्यायी आदि के रचयिता आचार्योंने इसे उपवृंहण नामसे उल्लेख किया है। उपवृंहण नाम बढ़ानेका है अर्थात् अपनी आत्मशक्तियों को बढ़ाना, उत्तम क्षमा, मार्दव आदि भावोंके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वभावको बढ़ाना तथा संघके दोषों का ढांकना उपवृंहण अंग है*।

---

* उपवृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं वृंहणादिह ॥ ७७८ ॥
पंचाध्यायी अ० २

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपवृंहणगुणार्थम् ॥ २७ ॥
पुरुषार्थसि०

उत्तमक्षमादिभिरात्मनो वृद्धिकरणं संघदोषाच्छादनं चोपवृंहणमुपगूहनम्। षट्प्राभृते भावप्राभृत टीका
गाथा ७७।

स्वामी समन्त-भद्राचार्य इस अंगका इस प्रकार अर्थ करते हैं कि जैनधर्म स्वयं-शुद्ध है, पवित्र है, पर उसके धारण करने वालोंमें कोई अज्ञानी, अशक्त या मिथ्यात्वी हो, और उसके द्वारा जैन धर्म की निन्दा होने लगे, अपवाद फैल जाय, तो उस निन्दा अपवादको दूर करना उपगूहन अंग है❤।

६ स्थितिकरण अंग—विषय-कषायादि निमित्तसे सम्यग्दर्शन या सम्यक् चारित्रसे डिगते हुए पुरुषोंको पुनः उसीमें स्थिर करना सो स्थिति करण अंग है*। जो धर्मसे पतित हो चुका है, या जो भ्रष्ट होने वाला है, उसे जिस प्रकार बने उसी प्रकारसे धर्ममें दृढ़ करना, स्थिर करना सम्यग्दृष्टिका एक खास अंग है। यह अंग व्यक्ति और समाज का महान् उपकारक है। धर्म और धर्मात्माओं की स्थिति इसी अंग पर अवलम्बित है। यह स्थिति-करण कहीं पर केवल वचनमात्रकी सहायतासे, कहीं

❤ स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्॥ १५॥
रत्नकरंडश्रावकाचार

* दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते॥ १६॥
रत्नकरंडश्रावका०

कषायविषयादिभिर्धर्मविध्वंसकारणेषु
सत्स्वपि धर्मप्रच्यवनरक्षणं स्थितिकरणम्।
भावपाहुड टीका गा० ७७

सावधान कर देने मात्रसे और कहीं आर्थिक सहायता देनेसे संभव है। अन्नादि के अकालमें कितने ही लोग मांस आदि अभक्ष्य और निंद्य पदार्थों को खाकर चारित्रसे पतित हो जाते हैं, कितने ही लोग अन्नके अत्यन्त मंहगे हो जानेसे अर्थाभावके कारण उसे खरीदनेमें असमर्थ हो जाते हैं। ऐसे समय केवल मौखिक सहायतासे काम नहीं चलता है, किन्तु धन-व्यय कर जहांसे मिले, वहांसे अन्नको मंगाकर स्वयं हानि उठाते हुए भी सस्ते भाव पर बेचकर गरीब और असमर्थ व्यक्तियोंके लिये अन्न सुलभ कर देना चाहिए, जिससे कि वे अखाद्यके खानेसे बच सकें। इसी प्रकार कितने ही गरीब नवयुवक विवाह आदि न होनेसे चारित्र-भ्रष्ट होने लगते हैं, उनकी रक्षाके लिए आवश्यक है कि सर्व साधारण लोग अपनी बहिन-बेटियों को सुशिक्षित करके उन्हें विवाहें, समाज उनके विवाह आदिकी चिन्ता करे और उन कारणोंको रोके, जिनके कारण समाजके गरीब नवयुवकोंको कन्याएं नहीं मिलती हैं। इसी प्रकार आजीविका के अभावमें कितने ही परिवार विधर्मी बन जाते हैं, उनके स्थिति-करणके लिए यह आवश्यक है कि समाज और समाजके दानी मानी पुरुष अपने दानका उपयोग उन गरीब परिवारोंकी आजीविका के स्थिर करनेमें करें। धर्माचरणके क्रम और रहस्यको न जाननेके कारण धनवान् लोग प्रभावना अंगके नाम पर लाखों रुपया पूजा, प्रतिष्ठा आदिमें खर्च कर देते हैं, उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि आचार्योंने पहले स्थितिकरण अंग,

उसके पश्चात् वात्सल्य अंग और उसके पश्चात् प्रभावना अंगका क्रम रखा है, जिसका अर्थ यह होता है कि पहले अपनी लक्ष्मी का उपयोग धर्मसे गिरते हुए व्यक्तियों के उत्थानमें करो, इसके पश्चात् यदि धन बचता है, तो अहिंसाकी रक्षा और हिंसाके दूर करनेमें व्यय करो, प्राणिमात्र पर वात्सल्य भावकी वृद्धि तभी होगी। इसके भी पश्चात् यदि धन बचता है तो प्रभावनाके कार्योंमें व्यय करो। यही सनातन नियम है और यही धर्मका क्रम और उसका यथार्थ रहस्य है। ऐसा जानकर हे मुमुक्षु जनो! अपनी चंचला लक्ष्मी को स्थितिकरणमें लगाकर उसे स्थिरि करनेका सत्प्रयत्न करो।

७ वात्सल्य अंग—धर्म और धर्मात्मा पुरुषोंसे गौ-वच्छ के समान प्रीति करनेको वात्सल्य कहते हैं। जिस प्रकार गाय वछड़े के प्रेम से खिंचकर अपने प्राणोंका भी मोह छोड़कर वछड़ेकी रक्षाके लिए सिंहके सामने चली जाती है और ऐसा विचार करती है कि यदि मुझे खाकर भी सिंह मेरे वछड़े को छोड़ देवे, तो अच्छा है। ठीक उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्म और धर्मात्माओंसे ऐसी ही प्रीति करता है और आपत्तिके समय अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी आपत्तिसे छुड़ा कर धर्म और धर्मात्माओंके साथ वात्सल्य भावका पालन करता है।

पंचाध्यायीकारने सिद्धप्रतिमा, अर्हद्‌विम्ब, जिनालय, चतुर्विध संघ और शास्त्र में सेवकके समान उत्तम सेवाके भाव रखनेको वात्सल्य कहा है। वे कहते हैं कि अर्हद्‌विम्ब, जिन-

मन्दिर आदि पर घोर उपसर्ग आदि आनेपर उसके दूर करनेके लिए सदा तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनी आत्मिक, शारीरिक, सैनिक, आर्थिक और मंत्र-संबन्धी शक्तिके रहते हुए जिन-बिम्बादि पर आई हुई आपत्ति, उपसर्ग, बाधादि को सह नहीं सकता, न देख-सुन ही सकता है♥।

स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि अपनी जैन समाजके प्रति निश्छल भाव रखकर उससे परम स्नेह करना, पदके अनुसार यथायोग्य आदर-सत्कार, पूजा, प्रशंसा आदि करना वात्सल्य अंग है*। यानी जिनशासनमें सदा अनुराग रखना वात्सल्य है■।

♥ वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्येषु भृत्यवत् ॥ ८०७ ॥
अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥ ८०८ ॥
यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोशकम्।
तावद्दृष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ ८०९ ॥

पंचाध्यायी अध्याय २।

* स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥

रत्नकरंडश्रावकाचार

■ जिनशासने सदानुरागता वात्सल्यम्।

भावपाहुड टीका गाथा नं० ७७।

सम्यग्दृष्टिको अपनी समाज के साथ, अपने धर्मके साथ और चतुर्विध संघके साथ सदा परम वात्सल्य रखना चाहिये♥ ! इन पर किसीभी प्रकारकी आपत्ति आदि आने पर तन, मन, धन से उसे दूर करनेके लिए सदा उद्यत रहना चाहिए और अपने जीते जी अपने धर्म, समाज, और संघका किसी प्रकारका अपमान तिरस्कार या विनाश न होने देना चाहिए।

८ प्रभावना-अंग—संसारमें फैले हुए अज्ञानके प्रसारको सद्-ज्ञानके प्रचार द्वारा दूर कर सदाचारका आचरण-मंत्र और विद्या आदि के प्रभाव द्वारा जिस प्रकार बने उस प्रकारसे जैन शासनका माहात्म्य संसारमें प्रकट करना प्रभावना अंग है ❀। आचार्योंने प्रभावनाके दो भेद किये हैं- आत्म-प्रभावना और बाह्य प्रभावना। रत्नत्रयको धारण कर उसके तेजसे आत्माको प्रभावशील बनाना आत्म-प्रभावना है* और विद्याबल से, मंत्र

♥ अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबंधने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥ २६५ ॥
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

❀ अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १८ ॥
रत्नकरंडश्रावकाचार

* आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दान-तपोजिमपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

बल से, तप तथा दान आदि से जैन धर्म का उत्कर्ष करना बाह्य प्रभावना है*। कोई चमत्कार दिखाकर मिथ्या धर्मका प्रभाव घटाना भी प्रभावना अंगमें शामिल है।

अब सम्यग्दर्शनके मदनामक आठ दोषों का वर्णन करते हैं।

पिता भूप वा मातुल नृप जो होय न तो मद ठानै,
मद न रूपको मद न ज्ञानको धन बलको मद भानै।१३।
तपको मद न मद जु प्रभुताको करै न सो निज जानै,
मद धारै तो यही दोष वसु समकितको मल ठानै॥

अर्थ—पिताके राजा होनेका अथवा अपने कुलके ऊंचे होने का अभिमान करना कुलमद है। मामाके राजा होनेका या मांके वंशके उच्च होनेका अहंकार करना जाति मद है। शरीरकी सुन्दरताका अभिमान करना रूप मद है। अपनी विद्या, कला-कौशलका मान करना ज्ञान मद है। अपने धन वैभव का घमंड करना धन मद है। अपनी शक्ति का गर्व करना बलमद है।

---

*बाह्य: प्रभावनांगोऽस्ति विद्यामंत्रादिभिर्बलैः।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥८१९॥
परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्।
चमत्कारकरं किंचिद्विधेयं महात्मभिः ॥८२०॥

पंचाध्यायी।

अपने तपश्चरण उपवास आदिका मद करना तपोमद है। अपनी प्रभुता या ऐश्वर्यका अहंकार करना प्रभुतामद है। ये मद नामके दोष हैं। जो इन मदोंको नहीं करता है, वही जीव अपनी आत्माको जान पाता है। जो जीव इन मदोंको धारण करते हैं उनके सम्यग्दर्शनकी निर्मलता नहीं रहती है, क्योंकि ये आठों मद सम्यग्दर्शनको मलिन कर देते हैं।

विशेषार्थ—अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि जीव ही जाति, कुल, बल-वैभवादिका मद करते हैं, ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि जीव नहीं, क्योंकि, वे जानते हैं कि जो वस्तु शरीरके आश्रित हैं, उनका विनाश शरीरके विनाशके साथ ही हो जाना निश्चित है, फिर मैं पर-संयोगसे उत्पन्न हुई क्षण-भंगुर वस्तुओंका क्या अभिमान करूं? इन वस्तुओंको मैंने पूर्वभवोंमें अनन्त वार पाया है और उनका अहंकार कर करके आज फिर संसारमें परिभ्रमण कर रहा हूँ। जिन बल वैभव और ऐश्वर्य आदिके मदसे प्रेरित होकर मैंने बड़े बड़े युद्ध किये, दूसरोंको नीचा दिखाया और स्वयं अभिमानके शिखर पर चढ़ा, उन बल-वैभवोंका आज पता तक नहीं है, फिर इस भवमें कर्मोदयसे प्राप्त इस आकिंचन, क्षणभंगुर और तुच्छ संपदाको पाकर क्या गर्व करूं? जाति और कुलके मदसे प्रेरित होकर आज मैं जिन्हें नीच और अछूत कहता हूँ, कौन कहता है कि कल मुझे स्वयं उनमें जन्म लेकर वैसा न बन जाना पड़े। अथवा इससे पहले अनेकों वार मैं स्वयं नीच योनियोंमें उत्पन्न हुआ हूँ। स्वर्ग का महर्धिक देव भी मर

कर क्षण में एकेन्द्रिय जीवोंमें आकर उत्पन्न हो जाता है, फिर मैं जाति और कुलका क्या मद करूं ? ऐसे विचारोंके कारण सम्यग्दृष्टि जीव आठों मदोंमें से किसीभी मदको नहीं करता है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि जो गर्व से युक्त होकर अपने अहङ्कारसे अन्य धर्मात्मा जनोंका तिरस्कार या अपमान करता है, वह उस व्यक्तिका अपमान नहीं करता है, बल्कि वह आत्मीय धर्मका ही अपमान करता है, क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म ठहर नहीं सकता*। इसलिए ज्ञानी पुरुषको किसी प्रकारका अहङ्कार नहीं करना चाहिए।

अब छह अनायतन और तीन मूढ़ताओंका वर्णन करते हैं:—

कुगुरु कुदेव कुवृष सेवक की नहिं प्रशंस उचरै है,
जिनमुनि जिनश्रुति विन कुगुरादिक तिन्हें न नमन करै है ॥१४

अर्थ—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरुसेवक, कुदेव सेवक और कुधर्म सेवक; इन छहोंकी स्तुति प्रशंसा आदि करने से छह अनायतन नामक दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टि पुरुष इनकी प्रशंसा आदि नहीं करता है। इसी प्रकार वह जिनमुनि, जिनशास्त्र और जिनदेव के सिवाय अन्य कुगुरु आदिको भय,

---

*स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥
रत्नकरंड श्रावकाचार

आशा, स्नेह, लोभ आदि किसी भी निमित्तसे नमस्कार, विनय आदि नहीं करता है* ।

यहां ग्रन्थकारने तीन मूढ़ताओंका वर्णन छन्दके चतुर्थ चरण में संक्षेप से कर दिया है। तीनों मूढ़ताओंका विस्तृत वर्णन पहले अमूढ़ दृष्टि अंगमें कर ही आये हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के २५ दोषों का वर्णन समाप्त हुआ।

अब सम्यग्दर्शनका माहात्म्य बतलाते हैं:—

दोषरहित गुणसहित सुधी जे सम्यक्‌दरश सजे हैं,
चरित-मोहवश लेश न सँजम पै सुरनाथ जजे हैं।
गेही पै गृहमें न रचै ज्यों जलमें भिन्न कमल है,
नगर-नारिको प्यार यथा कादेमें हेम अमल है ॥१५॥

अर्थ—जो बुद्धिमान पुरुष २५ दोषोंसे रहित और आठ अंगों से सहित सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं, उनके चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे लेशमात्र भी संयम न हो, तो भी देवों का स्वामी इन्द्र उनकी पूजा करता है। इस प्रकार के अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हैं, घरमें रहते हैं, तो भी उसमें लिप्त नहीं होते, अनासक्त होकर ही घर गृहस्थी का सबकार्य करते हैं। जैसे कमल

---

*भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥
रत्नकरंड श्रावकाचार

जलमें रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता, किन्तु भिन्न ही रहता है, अथवा जैसे वेश्या का प्यार आगन्तुक पर ऊपरी ही रहता है, भीतरी नहीं, तथा जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा सोना ऊपरसे ही मैला होता है, पर भीतर तो निर्मल ही रहता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव घरमें रहते और भोगोपभोग को भोगते हुए भी उन सबसे अलिप्त रहता है ।

आगे सम्यग्दर्शनकी और भी महिमा बतलाते हैं :—

प्रथम नरक विन षट् भू, ज्योतिष वान भवन सब नारी,
थावर विकलत्रय पशुमें नहि उपजत सम्यक्धारी ।❀
तीन लोक तिहुं काल माँहि नहिं दर्शन सो सुखकारी,
सकल धरमको मूल यही इस विन करनी दुखकारी ॥१६।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम नरकके बिना नीचेके छह नरकोंमें उत्पन्न नहीं होता, भवनबासी, ब्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें भी उत्पन्न नहीं होता है । तथा सब प्रकारकी स्त्रियोंमें अर्थात् तिर्यंचिनी, मनुष्यनी और देवांगनाओंमें भी उत्पन्न नहीं होता । स्थावर, विकलत्रय और पंचेन्द्रिय पशुओंमें भी उत्पन्न नहीं होता है । तीन लोक और तीनों कालोंमें सम्यग्दर्शनके समान सुखकारी वस्तु नहीं है । समस्त धर्म का मूल यह सम्यग्दर्शन

❀ सम्यग्दर्शनशुद्धाः नानकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥
रत्नकरंड श्रा०

ही है। इस सम्यग्दर्शनके बिना समस्त क्रियाओंका करना केवल दुःख-दायक ही है।

विशेषार्थ—यदि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति के पश्चात् जीवके पर-भव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है, तो मनुष्य और देवायु का ही बन्ध होता है, इसलिए वह न किसी नरकमें जाता है और न किसी प्रकारके तिर्यंचोंमें ही पैदा होता है। किन्तु जिस जीवके सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके पूर्व ही नरक या तिर्यंच आयुका बंध हो जाता है, तो उसे उस गतिमें तो नियमसे जानाही पड़ता है, परन्तु नरकमें वह पहले नरकसे नीचे नहीं जाता है और तिर्यंचों में भी वह भोग भूमि के असंख्यात वर्ष की आयु वाले पुरुषवेदी तिर्यंचोंमें ही जन्म लेता है, एकेन्द्रिय, विकलत्रय कर्म-भूमिके पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें नहीं। मनुष्य गतिमें यदि वह उत्पन्न हो, तो या तो भोगभूमिका पुरुषवेदी मनुष्य ही होगा, या कर्मभूमिका महान पराक्रमी, लोकातिशायी बल-वीर्यका धारक मानव-तिलक होगा* किन्तु दरिद्री, हीनांगी, विकलांगी, रोगी, शोकी और अल्पायु का धारक नहीं होगा। इसी प्रकार देवगतिमें भी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और हीन जातिके कल्पबासियोंमें नहीं उत्पन्न होगा। इसका विस्तृत विवेचन पहले भी कर आये

*ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुला महार्थाः मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥
रत्नक०

हैं सम्यग्दर्शनकी बहुत बड़ी महिमा है, इसके ही प्रभावसे नौ निधि और चौदह रत्नोंका स्वामी चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है, तथा त्रैलोक्यका स्वामित्वरूप महान तीर्थंकर पद भी इसी निर्मल सम्यग्दर्शनके प्रभावसे मिलता है। ऐसा जान कर भव्यजीवोंको सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए।

अब आगे बतलाते हैं कि सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और चारित्र यथार्थताको प्राप्त नहीं होते, इसलिये इसे सबसे प्रधान समझकर अविलम्ब धारण करना चाहिये:—

मोक्ष महलकी परथम सीढ़ी या बिन ज्ञान चरित्रा,
सम्यकता न लहैं सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।
'दौल' समझ, सुन, चेत, सयाने काल वृथा मति खोवै,
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक नहिं होवै॥७॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महलमें जाने के लिए पहली सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पना नहीं पाते, अर्थात् जब तक जीवके सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो जाता है, तब तक उसका ज्ञान मिथ्या-ज्ञान और चारित्र मिथ्या-चारित्र ही कहलाते हैं, वे तब तक सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र नहीं कहला सकते जब तक कि सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो जाय। क्योंकि शास्त्रकारों ने इसे मोक्ष मार्गमें कर्णधारके समान

कहा है* । इसलिए हे भव्य जीवो ! ऐसे पवित्र और महान् सम्यग्दर्शन को अवश्य धारण करो ।

छहढालाकार पं० दौलतरामजी अपनी आत्मा को तथा अन्य आत्महितैषियोंको संबोधन करते हुए कहते हैं कि हे सयाने—समझदार आत्मन् ! सुन, समझ और चेत, सावधान हो जा और अपने समय को व्यर्थ वर्वाद मत कर । देख, यदि इस जन्ममें भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सका, तो फिर इस मनुष्य-भव का मिलना अत्यन्त कठिन है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका वर्णन किया ।

तीसरी ढाल समाप्त

*दर्शनं ज्ञानचरित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥३१॥
रत्नकरंड श्रावकाचार

चौथी ढाल

तीसरी ढालमें सम्यग्दर्शन का वर्णन कर और उसके धारण करनेका उपदेश देकर अब ग्रन्थकार सम्यग्ज्ञानके धारण करनेका उपदेश देते हुए उसके स्वरूपका वर्णन करते हैं:—

दोहा—

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान।
स्व-पर अर्थ बहु धर्म जुत जो प्रकटावन भान॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनको धारण कर फिर सम्यग्ज्ञान को धारण करना चाहिए। यह सम्यग्ज्ञान अनेक धर्मों से युक्त स्व और परको अर्थात् अपनी आत्मा को और परपदार्थों को ज्ञान करानेके लिए सूर्यके समान है।

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने आपको प्रकाशित करते हुए अपने से भिन्न अन्य समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है, इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान भी अपनी आत्माको और शेष समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ उत्पन्न होने पर भी भिन्न भिन्न हैं, एक नहीं; इस बात का वर्णन करते हैं:—

सम्यक् साथे ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ,
लच्चण श्रद्धा जान, दुहू में भेद अवाधौ।

सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई,
युगपत होते हू प्रकाश दीपकतें होई* ॥ १ ॥

अर्थ—यद्यपि सम्यग्दर्शनके साथ ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि उन दोनों का भिन्न भिन्न ही आराधन करना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दर्शनका लक्षण यथार्थ श्रद्धान करना है और सम्यग्ज्ञानका लक्षण यथार्थ जानना है, इस प्रकार दोनों में अबाधित भेद है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान उसका कार्य जानना चाहिए। इन दोनों के एक साथ उत्पन्न होने पर भी दीपक और प्रकाशके समान उनमें कार्य-कारण भाव है जिस प्रकार दीपक का जलना और उसका प्रकाश एक ही समय में प्रगट होता है तो भी दीपक का जलना कारण है और प्रकाश उसका कार्य है।

विशेषार्थ—पदार्थ के स्वरूपके यथार्थ जाननेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके समान ही आत्माका निज स्वरूप है, इसलिए जब आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण प्रकट

---

*पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥३२॥
सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥
कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीप-प्रकाशयोरिव सम्यक्त्व-ज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

होता है, तभी सम्यग्ज्ञान भी प्रकट हो जाता है, अर्थात् मिथ्यात्व दशामें जो मति, श्रुत आदि ज्ञान थे और सम्यग्दर्शन न प्रकट होनेसे अभी तक मिथ्याज्ञान कहलाते थे, वे ही सम्यग्दर्शन प्रकट होनेके प्रभावसे सम्यग्ज्ञान कहलाने लगते हैं, अन्य कोई भेद नहीं जानना चाहिए।

शंका—इस प्रकार तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवके ज्ञानमें कोई भेद नहीं रहा, फिर एकका ज्ञान क्यों सच्चा कहा जाय और दूसरे का ज्ञान क्यों मिथ्या कहा जाय ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि जीव प्रयोजनभूत जीवादि तत्वोंके यथार्थ स्वरूपका जानकार होता है, इसलिए अन्य पदार्थ जो उसके जानने में आते हैं, वह उन सबका यथार्थ रूप ही श्रद्धान करता है, अतएव उसका ज्ञान सच्चा कहलाता है। किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव जीवादि मूल-तत्वोंके यथार्थ ज्ञानसे रहित होता है, इसलिए अन्य अप्रयोजनीय जो पदार्थ उसके जाननेमें आते हैं, वह उनको भी अयथार्थ ही जानता है इसी कारण उसका ज्ञान मिथ्या कहलाता है । मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अनिश्चित होता है, सम्यग्दृष्टिके समान पदार्थोंको जानते हुए भी उसके ज्ञानमें पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानने की कमी रहती है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान कारण-विपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूप-विपर्यास रूप होनेके कारण मिथ्याज्ञान कहलाता है। इन तीनों का संक्षिप्त स्वरूप क्रमशः इस प्रकार जानना चाहिए :—

कारण-विपर्यास—पदार्थोंकी अवस्थाएं प्रतिक्षण बदलती रहती हैं उनका यथार्थ कारण क्या है ? इस बातके यथार्थ ज्ञान न होनेको या उसके अन्य मतावलम्बियों द्वारा माने गये विपरीत कारणोंको मानना सो कारण विपर्यास है। जैसे—रूपी जड़ पदार्थोंका भी मूलकारण एक अमूर्त्तिक नित्य ब्रह्मको मानना, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके शरीराकार परिणत परमाणुओंको भिन्न-भिन्न मानना, समस्त संसारी जीवोंको एक परमात्माके अंश मानना, चेतनको अपरिणामनशील मानना, क्रोध, मान, मायादिको जीवके वैभाविक भाव न मानकर प्रकृतिके विकार मानना आदि ।

भेदाभेद-विपर्यास—कारणसे कार्यको सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना, यह भेदाभेद-विपर्यास है । क्योंकि यथार्थमें उपादानरूपसे कारणके समान ही कार्य होता है इस अपेक्षा तो कारणसे कार्य अभिन्न है किन्तु पर्यायके बदलनेकी अपेक्षा कारणसे कार्य भिन्न है। इस प्रकार अनेकान्त-वादकी दृष्टिसे कारणसे कार्यमें कथंचित् भेदाभेद है, सर्वथा नहीं।

स्वरूप विपर्यास—रूप, रस, आदिको निर्विकल्प या ब्रह्मरूप समझना, या उन्हें ज्ञान स्वरूप पर्याय मात्र समझना स्वरूपविपर्यास है ।

मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित् शास्त्रोंके विशेष अभ्याससे पदार्थों का स्वरूप यथार्थ जान भी लेवे तो भी उनसे सांसारिक बंधरूप अभिप्रायकी ही सिद्धि करता है, मोक्षरूप साधनकी

सिद्धि नहीं करता, इसलिए मिथ्यादृष्टिका ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहलाता है, सम्यग्ज्ञान नहीं।

शंका—यदि सम्यग्दर्शनके साथ ही सम्यग्ज्ञान होता है तो फिर उसकी भिन्न आराधना करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—दोनोंके साथ साथ होने हर भी भिन्न भिन्न आराधना करने की आवश्यकता है, क्योंकि दोनों स्वतंत्र गुण हैं, सम्यग्दर्शनकी आराधनासे उसमें उत्तरोत्तर शुद्धि होगी और सम्यग्ज्ञानकी आराधनासे उत्तरोत्तर ज्ञानकी शुद्धि होगी तथा सम्यग्दर्शनकी निर्दोष परिपालना होगी। इसलिए, अमृतचन्द्राचार्यने 'ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्' अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेके पश्चात् सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए, शास्त्राभ्यास आदिके द्वारा उसे निरंतर बढ़ाते रहना चाहिए, ऐसा उपदेश दिया है।

अब सम्यग्ज्ञानके भेदों का वर्णन करते हैं :—

तास भेद दो हैं परोक्ष परतछि तिनमांही,
मति श्रुत दोय परोक्ष अक्ष मनतें उपजांही।
अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश-प्रतच्छा,
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिए जानै जिय स्वच्छा ॥२॥

अर्थ—उस सम्यग्ज्ञानके दो भेद हैं—एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं, क्योंकि, इंद्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होते

हैं। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान ये दो देश-प्रयत्त ज्ञान हैं, क्योंकि इनके द्वारा जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका परिमाण लिये हुए रूपी पदार्थोंको स्पष्ट जानता है।

सकल द्रव्य के गुण अनन्त परजाय अनन्ता,
जानै एकै काल प्रगट केवलि भगवन्ता ।
ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन,
यह परमामृत जन्म जरा मृति रोग निवारन ॥३॥

अर्थ—केवली भगवान अपने केवल ज्ञानके द्वारा समस्त द्रव्योंके त्रिकालवर्ती अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायोंको एक समयमें एक साथ प्रत्यक्ष जानते हैं। संसारमें ज्ञानके समान सुखका अन्य कोई कारण नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान जन्म, जरा और मरण रूपी रोगके निवारण करनेके लिए परम-अमृतके समान है।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञानके मूलमें दो भेद हैं—परोक्षज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान। जो ज्ञान पांच इन्द्रिय और मनकी सहायता से पदार्थको जानता है उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। इस परोक्ष ज्ञानके दो भेद हैं—१–मतिज्ञान और २–श्रुतज्ञान। पांच इन्द्रिय और मन इन छहोंमें से किसी एकके द्वारा एक समयमें किसी पदार्थ का जानना मतिज्ञान है। जैसे स्पर्शन-इन्द्रियसे शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि पदार्थको जानना, रसना-इन्द्रियसे खट्टे, मीठे, तीखे, चरपरे, आदि पदार्थको जानना, घ्राण-इंद्रियसे

सुगन्ध दुर्गन्धको, चक्षुरिंद्रियसे काले, पीले, नीले आदिको और कर्ण-इन्द्रियसे नाना प्रकारके शब्दोंको सीधा जानना, तथा मन से एकाएक किसी पदार्थको जान लेना मतिज्ञान है। मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थके सम्बन्धसे तत्सम्बन्धी विशेषको या पदार्थान्तरको जानना श्रुतज्ञान है। जैसे किसीने एक व्यक्तिको लाठी मारी, यहां पर लाठीकी कठोरताका ज्ञान तो मतिज्ञान है और उसके प्रहारसे दुःखका अनुभव करना श्रुतज्ञान है। इसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। कर्ण इन्द्रियसे शब्द सुनकर अर्थ को समझना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहलाता है जैसे जीव शब्द सुनकर जीव द्रव्यका ज्ञान करलेगा। यह सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके ही होता है, किन्तु अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान सब जीवोंके होता है।

इन्द्रिय आदिकी सहायताके बिना पदार्थके स्पष्ट जाननेको प्रत्यक्ष कहते हैं, इस प्रत्यक्षज्ञानके दो भेद हैं, देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञानको देश-प्रत्यक्ष कहा है, क्योंकि ये दोनों ज्ञान अपने विषय-भूत पदार्थके एक देशको ही स्पष्ट जानते हैं सर्व देशको नहीं। केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि त्रिलोक और त्रिकालवर्ती ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसे यह हाथमें रखे हुए आंवलेके समान स्पष्ट न जानता हो। इन तीनों प्रत्यक्ष ज्ञानों का स्वरूप इस प्रकार है :—

अवधिज्ञान—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा-पूर्वक रूपी

पदार्थोंके स्पष्ट जाननेको अवधिज्ञान कहते हैं। पुद्गल द्रव्यको रूपी पदार्थ कहते हैं अतः यह अवधिज्ञान स्थूल पुद्गलोंसे लेकर सूक्ष्म पुद्गल परमाणु तकको प्रत्यक्ष जान सकता है। यही अवधि ज्ञान पुद्गलके निमित्तसे होने वाली जीवकी मनुष्य, तिर्यंच, आदि त्रिकालवर्ती पर्यायोंको अपनी शक्तिके अनुसार जान लेता है। शक्तिके अनुसार कहनेका अभिप्राय यह है कि जिन जीवोंके अवधिज्ञान होता है, उन सबके एकसा नहीं होता, किन्तु विशुद्धि और संयम की अपेक्षा हीन या अधिक होता है। जीवके ज्यों ज्यों परिणामोंमें विशुद्धि बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों अवधिज्ञानके द्वारा जाननेकी शक्ति भी बढ़ती जाती है। देव और नारकियोंके जो अवधिज्ञान होता है उसे भवप्रत्यय अवधि कहते हैं, क्योंकि, वह देव या नरक पर्यायके निमित्तसे उत्पन्न होता है। नारकियोंके सबसे छोटा भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है और देवोंके सबसे बड़ा। मनुष्य और तिर्यंचोंके जो अवधि- होता है उसे क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधि- ज्ञान तीन प्रकारका है—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि देव, नारकी और तिर्यंचोंके देशावधि ज्ञान ही होता है किन्तु मनुष्यके तीनों प्रकारका अवधि ज्ञान हो सकता है। उसमें भी परमावधि और सर्वावधि तो तद्भव मोक्ष-गामी संयमी मनुष्य के ही होते हैं। इस अवधिज्ञानके द्वारा पिछले या आगामी भवोंका वर्णन जीवोंके पारस्परिक खोई, गुमी या चुराई

गई वस्तुओं का परिज्ञान, गड़े हुए और नष्ट हुए धन आदिका बोध होता है ।

मन:पर्ययज्ञान - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लिए हुए दूसरोंके मनकी बातोंको जानने वाले ज्ञानको मन:पर्यय ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान और विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान। जो दूसरेके मनकी सीधी या सरलता से सोची गई बातको जाने, वह ऋजुमतिमन:पर्यय ज्ञान है और जो कुटिलता-पूर्वक चिंतवन की गई, आधी चिंतवन की गई या नहीं चिन्तवन की गई मनकी बातको जाने उसे विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान कहते हैं। ऋजुमतिवाला अपने या दूसरोंके सात-आठ भवों तकके मनकी बातको जान सकता है, किन्तु विपुलमतिवाला असंख्यात भवों तककी सोची, अध-विचारी आदि मनकी बातोंको जान सकता है। ये दोनों ज्ञान महान् संयमी साधुके ही होते हैं इनमें विपुलमतिज्ञान तद्भव मोक्षगामी महान संयमी पुरुषके होता है।

केवल ज्ञान—जो त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्योंको और उनके अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायोंको एक साथ हस्तामलकवत् जाने उसे केवल ज्ञान कहते हैं। चार घातिया कर्मोंके नाश होने पर ही यह ज्ञान प्रगट होता है अतएव यह क्षायिक ज्ञान कहलाता है, इसके द्वारा पदार्थोंको जाननेके लिए इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं होती, अतएव इसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। इसके प्रगट होने पर मतिज्ञान आदि चारों क्षायोपशमिकज्ञान

नष्ट हो जाते हैं, केवल—एकमात्र यही ज्ञान रह जाता है, इसीलिए इसको 'केवलज्ञान' कहते हैं। अरिहन्त और सिद्ध भगवान के यह ज्ञान होता है अन्यके नहीं।

छहढालाकार कहते हैं कि ज्ञानके समान अन्य कोई पदार्थ सुखका कारण नहीं है। यथार्थमें सुखका सम्बन्ध या उसका आधार ज्ञान ही है। जिसको जितना यथार्थ ज्ञान होता जाता है, उसे उतने ही परिमाणमें सुख भी बढ़ता जाता है। श्री त्रिलोकसारमें कहा है कि:—एक भी शास्त्रको भली-भांतिसे जाननेवाला मनुष्य अत्यन्त सन्तोष या परम आनन्दका अनुभव करता है तो जो संसारके समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जान और देख रहा है, वह कितना अधिक आनन्द और सुखका अनुभव नहीं करेगा❤। कहनेका सारांश यह है कि जिसके अनंतज्ञान होता है उसीके अनन्त सुख भी होता है।

अब ज्ञानकी महत्ता बतलाते हुए आत्मज्ञानकी सर्व-श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं:—

कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे,
ज्ञानीके छिन माँहि त्रिगुप्तितें सहज टरैं ते*।

❤ एयं सत्थं सव्वं सत्थं वा सम्ममेत्थ जाणंता।
तिव्वं तुस्संति णरा किएण समत्थत्थ तच्चण्हू ॥५५६॥
त्रिलोकसार।

* जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसदसहस्सकोडीहिं।
तं णाणीं तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमित्तेण॥
कुन्दकुन्दाचार्य।

मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुखलेश न पायो ॥ ४ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीव आत्मज्ञानके बिना करोड़ों जन्मोंमें तप करके जितने कर्मोंकी निर्जरा करता है उतने कर्मोंकी निर्जरा ज्ञानी पुरुषके मन, वचन, कायको वश में करने से एक क्षण भर में अनायास सहज ही हो जाती है। यह जीव मुनिव्रतको धारण कर अनन्तवार नवग्रैवेयक तक उत्पन्न होचुका है, तथापि अपनी आत्माके यथार्थ ज्ञानके बिना इसने लेशमात्र भी यथार्थ सुख नहीं पाया।

तातैं जिनवर-कथित तत्व अभ्यास करीजे,
संशय, विभ्रम, मोह त्याग आपो लख लीजे।
यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिवौ जिनवानी,
इह विध गये न मिलै सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥५॥

अर्थ—इसलिए जिन भगवानके द्वारा कहे गये तत्वोंका अभ्यास करना चाहिए और संशय, विभ्रम, तथा अनध्यवसाय का त्याग कर आत्माके स्वरूपका अनुभव करना चाहिए। यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, जिनवाणीका सुनना, ये सब सुयोग यदि यों ही वृथा चले गये, तो वे समुद्रमें समा गये हुए उत्तम रत्नके समान फिर नहीं मिल सकेंगे।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके लिये उपदेश

देते हैं कि सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके लिये जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट सात तत्वोंका संशय, विभ्रम और मोह को त्यागकर अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि ये सात तत्व ही प्रयोजनभूत हैं, आत्माकी इष्ट सिद्धिके साधक हैं। संशय आदिका स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—परस्पर-विरोधी अनेक कोटीके स्पर्श करने वाले ज्ञानको संशय कहते हैं। जैसे दूर पर पड़े हुये किसी चमकीले पदार्थ को देखकर सन्देह करना कि यह सीप है या चांदी। विपरीत एक कोटीके निश्चय करने वाले ज्ञान को विभ्रम कहते है। जैसे सीप को चाँदी समझ लेना। इसी का दूसरा नाम विपर्यय या विपरीत ज्ञान है। वस्तु सम्बन्धी यथार्थ ज्ञानके अभावको मोह या विमोह कहते हैं। जैसे मार्गमें चलते समय किसी वस्तुका स्पर्श होने पर उसका यथार्थ निर्णय न कर सोचना कि कुछ होगा, इसको अनध्यवसाय भी कहते हैं। ये तीनों मिथ्या ज्ञान कहलाते हैं क्योंकि, वे वस्तुके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं कराते सर्व साधारण लोगोंकी प्रवृत्ति प्रायः इन तीनों मिथ्या ज्ञानोंके अनुरूप पाई जाती है। इसीलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि इन तीनों अज्ञानोंको दूर कर और यह निश्चय कर कि जिनोपदिष्ट तत्व ही सत्य हैं, उनका अभ्यास करके अपने आपको लखना चाहिए मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है और मुझे क्या प्राप्त करना है।

यहाँ पर एक बात खासतौर पर ध्यान रखने की है कि तत्व ज्ञानके साधक-शास्त्रोंका अभ्यास सम्यग्ज्ञानके आठ अंगोंके धारण करनेके साथही करना चाहिए, तभी स्थायी और यथार्थ

ज्ञानकी प्राप्ति होती है। सम्यग्ज्ञानके वे आठ अंग इस प्रकार हैं:—

१—ग्रन्थाचार—व्याकरणके अनुसार अक्षर पद, मात्रादिका शुद्धता पूर्वक पठन-पाठन करना छन्दशास्त्रके अनुसार विवक्षित पद्यको उसी छन्दके राग (चाल) से पढ़ना ग्रन्थाचार है।

२—अर्थाचार—ग्रन्थके यथार्थ शुद्ध अर्थके निश्चय करनेको अर्थाचार कहते हैं।

३ उभयाचार—मूल ग्रन्थ और उसका अर्थ इन दोनोंके शुद्ध पठन-पाठन और अभ्यास वा धारण करने को उभयाचार कहते हैं।

४ कालाचार—अध्ययनके लिये जिस समयको शास्त्रकारोंने अकाल कहा है, उस समयको छोड़ कर उत्तम योग्य कालमें पठन-पाठन कर ज्ञानके विचार करनेको कालाचार कहते हैं।

५ विनयाचार—शुद्ध जलसे हाथ, पाँव धोकर निर्जन्तु, स्वच्छ एवं निरुपद्रव स्थानमें पद्मासन बैठ कर विनय पूर्वक शास्त्राभ्यास, तत्व-चिंतन आदि करनेको विनयाचार कहते हैं।

६ उपधानाचार—धारणा सहित ज्ञानकी आराधना करनेको उपधानाचार कहते हैं, अर्थात् जो कुछ पढ़ें, उसे भूल न जावें याद रखें।

७ बहुमानाचार—ज्ञान और ज्ञानके साधन शास्त्र, पोथी, गुरु आदिका पूर्ण सन्मान करना बहुमानाचार है।

अनिन्हवाचार—जिस गुरुसे या जिस शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त करें उसके नाम न छिपाने को अनिन्हवाचार कहते हैं।

इन आठों अंगोंको धारण कर-उनका भलीभांति पालन करते हुए ही सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए, तभी वह स्थिर रहता है और वास्तविक फलको देता है।

चतुर्गति-परिभ्रमणका वर्णन पहली ढालमें कर आये हैं। यह जीव एकेन्द्रियपर्याय से निकलकर अधिकसे अधिक दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में रहता है। इतने समयके भीतर यदि वह संसार परिभ्रमणसे छूटकर सिद्ध होगया, तब तो ठीक है, अन्यथा फिर नियमसे एकेन्द्रियपर्याय में चला जाता है और वहां असंख्यात कालतक फिर जन्म-मरण करता हुआ पड़ा रहता है। त्रसपर्याय की जो दो हजार सागर की कायस्थिति बतलाई है, उस मेंसे बहुभाग समय तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि क्षुद्र जीव-जन्तुओं की पर्यायोंके भीतर घूमने में ही चला जाता है, पंचेन्द्रियपर्यायके लिए बहुत कम समय बचता है। फिर उस अवशिष्ट समयमें भी नरकगति और पंचेन्द्रिय पशुगतिके भीतर परिभ्रमण करने में बहुभाग समय चला जाता है। अब अवशिष्ट जितना समय बचा, उसके भीतर वह मनुष्य और देवगति में जन्म लेता है। मनुष्य होकर भी बहुभाग पर्यायें तो नीच कुलमें उत्पन्न होने, रोगी, शोकी, हीनांग, विकलांग, गूँगे; बहरे आदि होनेके रूपमें ही निकल जाती हैं, उत्तम कुलमें जन्म लेना अत्यन्त कठिन बतलाया गया है। यदि भाग्यवश उत्तम कुलमें जन्म भी होगया

तो नीरोग शरीर का मिलना अत्यन्त कठिन है, यदि भाग्यवश वह भी मिल गया तो धर्मबुद्धि का होना बहुत दुर्लभ है, क्यों कि अनादि कालके संस्कार वश जीवकी प्रवृत्ति स्वभावतः विषय भोगों की ओर रहती है। यदि किसी सुयोगसे धर्मबुद्धि भी जागृति हुई तो वह संसार में फंसे हुए नानामत-मतान्तरोंमें उलझकर मिथ्यात्व का ही पोषण करके संसार-वासके बढ़ानेमें ही लग जाता है। अतः सच्चे धर्म की प्राप्तिका होना अत्यन्त कठिन माना गया है। इसी बातको ध्यान में रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि यह मनुष्य पर्याय, उसमें भी उत्तम श्रावककुल और उसमें भी जिनवाणी का सुनना उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ है। इन्हें पाकर भी—जो कि आज दैववशात् प्राप्त हुई हैं, यदि हमने उनसे लाभ नहीं उठाया, सच्चे तत्वों का अभ्यास कर चारित्र धर्म को धारण नहीं किया और यह नरभव योंही व्यर्थ खोदिया तो फिर इसका पुनः प्राप्त होना ऐसा कठिन है, जैसाकि समुद्रमें गिरे हुए किसी रत्न का पुनः मिलना अत्यन्त कठिन होता है। इस सबके कहने का सार यह है कि मनुष्य जीवनके एक एक क्षणकी अत्यन्त सावधानी पूर्वक रक्षा करना चाहिए और उसे रत्नत्रयकी आराधनामें लगाकर सफल करना चाहिए।

आगे ग्रन्थकार जीवको संबोधित करते हुए कहते हैं कि संसारकी कोई भी वस्तु आत्माके काज आने वाली नहीं है, एक सच्चा ज्ञानही काम आयेगा। अतः उसे पानेकेलिए जैसे बने, तैसे प्रयत्न करो। सुनिये, ग्रन्थकर कहते हैं:—

धन समाज गज बाज राज कछु काज न आवे,
ज्ञान आपको रूप भये फिर अचल रहावे।
तास ज्ञानको कारण स्व-पर विवेक बखानो,
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनो ॥

अर्थ–रात दिन अनेकों कष्ट उठाकर उपार्जित किया हुआ यह धन, यह जन–समाज, हाथी, घोड़े, और यह राज–पाट आदि कोईभी लौकिक सम्पदा आत्माके किसीभी काममें आने वाली नहीं है, सब यहींके यहीं रह जाने वाले हैं, मरने पर कोईभी पदार्थ आत्माके साथ चलने वाला नहीं है, एक सच्चा ज्ञान ही ऐसा है, कि यदि उसकी प्राप्ति हो जाय तो वह अचल रहता है अर्थात् कभी नहीं छूटता, परभवमें भी साथ चलता है, क्योंकि वह अपनी आत्माका स्वरूप है। इस सम्यग्ज्ञानके पानेका कारण स्व-पर विवेक अर्थात् आपा-परका भेद ज्ञान बतलाया गया है। इसलिए हे भव्य जीवो! कोटि उपाय बनाकर जैसे बने उस प्रकारसे प्रयत्न कर उस स्व-पर विवेकको अपने हृदयमें लाओ।

आगे और भी ज्ञान की महिमा बतलाते हैं:—

जे पूरब शिव गये, जांहि, अब आगे जे हैं,
सो सब महिमा ज्ञान-तनी मुनि-नाथ कहे हैं।
विषय-चाह दव-दाह जगत-जन अरनि दझावे,
तासु उपाय न आन ज्ञान-घन घान बुझावे॥७॥

अर्थ–आजसे पहले भूतकालमें जितने अनंत जीव मोक्षको गए हैं, आज वर्तमान में विदेहक्षेत्रों में जारहे हैं और आगे भविष्य कालमें जितने अनन्तानन्त जीव मोक्ष को जावेंगे सो यह सब सम्यग्ज्ञानकी महिमा है ऐसा मुनियों के स्वामी जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगोंकी चाह रूपी यह दावानल (जंगलकी आग) जगत्-जन रूपी अरण्य (जंगल,वन) को जला रहा है—समस्त संसारको भष्मसात् कर रहा है, इस भयंकर विषय-चाह-रूप दावानलको बुझानेके लिए संसारकी कोई भी वस्तु समर्थ नहीं है, एक मात्र सम्यग्ज्ञान रूपी मेघ-मंडल ही उसके बुझानेमें समर्थ है। इसलिए रात-दिन बढ़ती हुई इस विषय-तृष्णारूपी अग्निको शान्त करनेके लिए सम्यग्ज्ञानके पानेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

लोग कहते हैं आचार्योंका कहना सच है, हमभी समझते हैं, कि संसार की कोई भी संपदा साथ जाने वाली नहीं है और इस विषय-चाहको रोकनेके लिए सम्यग्ज्ञान ही एक मात्र उपाय है। परन्तु क्या करें, आज यह आपत्ति आगई, तो कल वह आपद् आगई। कभी किसी का जन्म हुआ, तो कभी किसी का मरण, एक झंझटसे छुटकारा नहीं हो पाता है, कि तुरन्त उससे बढ़कर दूसरी नई झंझट सामने तैयार रहती है, इन झंझटों और उनकी चिन्ताओंके कारण हमें आत्मकल्याणके लिए चाहते हुएभी अवकाश ही नहीं मिलता। फिर आप बतलाइए कि हम कैसे आत्म-कल्याणके मार्गमें लगें? इस प्रकार कहने वाले भोले

भव्योंके लिए ग्रन्थकार संबोधन करते हुए कहते हैं कि:—

पुण्य पाप-फल मांहि हरष विलखौ मति भाई,
यह पुद्गल पर्याय उपजि विनसै फिर थाई ।
लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ,
तोरि सकल जगदंद फंद निज आतम ध्याओ ॥८॥

अर्थ—हे भाई ! तुम पुण्यका फल मिलने पर हर्ष मत करो और पापका फल मिलनेपर विषाद मत करो, क्योंकि यह सब कर्मरूप पुद्गलकी पर्यायें हैं जो सदा उपजतीं और विनशतीं रहती हैं। संसारका यही स्वभाव है कि सदा काल कोई न कोई आपत्ति बनी ही रहती है। इसलिए इन झंझटों के चक्करमें न फंसो, उनमें आसक्त होकर आत्म-कल्याण से विमुख न रहो। सच्ची और लाख बातकी बात यही है और इसे ही निश्चयसे हृदयमें लाओ कि संसारके समस्त दंद-फंदों को तोड़कर नित्य अपनी आत्माका ध्यान करो, यदि सांसारिक झंझटोंके जंजालमें उलझे रहे, जोकि कभी सुलझने वाले नहीं हैं, तो तुम त्रिकाल में भी अपना कल्याण नहीं कर सकोगे ।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया ।

अब आगे सम्यक्चारित्रके धारण करनेका उपदेश देते हुए उसके भेदकर उनके स्वरूपका वर्णन करते हैं:—

सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दिढ़चारित लीजे,
एक देश अरु सकलदेश तसु भेद कहीजे ।

त्रस हिंसाको त्याग वृथा थावर न संहारै,
पर-बधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै ॥९॥
जल-मृतिका विन और नाहिं कछु गहे अदत्ता,
निज वनिता विन सकल नारिसों रहे विरत्ता।
अपनी शक्ति विचार परिग्रह थोरौ राखै,
दशदिशि गमनप्रमाण ठान तसु सीम न नाखै ॥१०॥
ताहूमें फिर ग्राम गली गृह बाग बजारा,
गमनागमन प्रमाण ठान अन सकल निबारा।
काहूकी धन हानि किसी जय हार न चिंतै,
देय न सो उपदेश होय अघ बनिज कृषीतें ॥११॥
कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै,
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै।
राग द्वेष करतार कथा कबहूं न सुनीजे,
औरहु अनरथ दंड हेत अघ तिन्हें न कीजे ॥१२॥
धरि उर समता भाव सदा सामायिक करिये,
पर्व चतुष्टय मांहि पाप तजि प्रोषध धरिये।
भोग और उपभोग नियम करि ममतु निवारै,
मुनिको भोजन देय फेरि निज करहि अहारै ॥१३॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकारसे सम्यग्ज्ञानको धारण कर पश्चात् सम्यक् चारित्रको दृढ़ता-पूर्वक धारण करे। सम्यक् चारित्रके दो भेद कहे गए हैं:—एक देश चारित्र, और दूसरा सकल चारित्र। पापास्रवके कारणभूत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचो पापोंके एक देश या स्थूलत्यागको देशचारित्र कहते हैं इसके धारक श्रावक कहलाते हैं। मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदनासे उन पापोंके सर्वथा त्याग को महाव्रत कहते हैं। इसके धारक मुनि कहे जाते हैं। देश चारित्रके मूलमें तीन भेद हैं:—अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत। इनमें गुणव्रतके तीन भेद और शिक्षाव्रतके चार भेद होते हैं। इस प्रकार ये सब मिलकर श्रावकके बारह व्रत कहलाते हैं। अब इनका क्रमसे स्वरूप कहते हैं:—

१ अहिंसाणुव्रत—मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदनासे संकल्प पूर्वक त्रसजीवोंकी हिंसाका त्याग करना और बिना प्रयोजनके स्थावर जीवोंका भी घात नहीं करना सो अहिंसाणुव्रत है*। इस व्रतका धारक श्रावक गृहस्थीके आरम्भ आदिसे होने वाली हिंसाका त्यागी नहीं होता। इसी प्रकार व्यापार आदिके करनेमें जो आने जाने आदिके निमित्तसे हिंसा होती है, गृहस्थ उसका भी त्यागी नहीं होता। आततायी, शत्रुओं या विप-

---

*संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥

स्त्रियोंके द्वारा अपने या अपनी बहू बेटियों पर, मन्दिरों पर, असहाय लोगों पर और धर्मायतनों पर किये गये आक्रमणोंको रोकनेके लिए, आत्मरक्षाके लिए अपना बचाव करते समय जो विपक्षियोंकी अपने द्वारा हिंसा होती है, गृहस्थ उसका भी त्यागी नहीं होता, क्योंकि गृहस्थ जीवनके निर्वाहके लिए तथा अपनी और अपने धर्म, समाज, पड़ौसी, गाँव, देश आदिकी रक्षाके लिए उक्त हिंसा उसे विवशता-पूर्वक करनी पड़ती है।

२ सत्याणुव्रत—दूसरेके प्राणघातक, कठोर और निन्द्य वचन नहीं बोलना सो सत्याणुव्रत है। इस व्रतका धारी मोटी झूठ बोलनेका त्यागी होता है, इसलिए वह ऐसा कोई वचन नहीं बोलेगा न दूसरेसे बुलवायेगा जिससे कि किसी प्राणीका घात हो, धर्मका घात या अपमान हो, कोई समाज या देश बदनाम हो। यहाँ एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि इस व्रतका धारी श्रावक सत्याणुव्रत की ओटमें ऐसा सत्य भी नहीं कहेगा कि जिससे किसी प्राणी की हिंसा हो जाय, धर्म पर या देश-समाज पर कोई महान संकट या आपत्ति आ जाय*।

३ अचौर्याणुव्रत—दूसरे की वस्तुको बिना दिये हुए ग्रहण नहीं करना अचौर्याणुव्रत है। इस व्रतका धारी श्रावक बिना

---

*स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्॥
रत्नकरंड श्रावकाचार

आज्ञाके उस कुए से पानी और जमीनसे मिट्टी तक भी न लेगा, जिस पर कि किसी एक ही व्यक्ति का अधिकार या प्रतिबन्ध हो। इसी प्रकार वह किसी की गिरी, पड़ा, भूली या रखी हुई वस्तुको भी न स्वयं लेगा, न उठा कर दूसरे किसी को देगा* ।

४—ब्रह्मचर्याणुव्रत—अपनी स्त्रीके सिवाय संसार की समस्त स्त्रियोंसे विरक्त रहना, उनसे किसी प्रकारके विषय-भोगकी इच्छा नहीं करना, न हंसी-मजाक करना सो ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है। इस व्रतका धारक श्रावक परस्त्री-सेवनमें महा पाप और घोर अन्याय समझता है अतएव वह न तो स्वयं किसी अन्य स्त्रीके पास जाता है और न किसी दूसरे पुरुषको भिजवाता है। इसी व्रत का दूसरा नाम स्व-दार-सन्तोष भी है❤ ।

५ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत--अपनी आवश्यकता और सामर्थ्यको देख कर धन, धान्य आदि परिग्रहका परिमाण करके अल्प परिग्रह रखना और उसके सिवाय शेष परिग्रहमें निःस्पृहता रखना, अर्थात् अपनी इच्छाओंको अपने अधीन कर लेना उसे परिग्रह

---

*निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारणम् ॥
रत्नकरंडश्रावकाचार

❤न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥
रत्नकरंड श्रावकाचार

परिमाण—अणुव्रत कहते हैं❤। इस प्रकार पाँच अणुव्रतोंका स्वरूप कहा। अब गुणव्रतोंका वर्णन करते हैं:—

जो अणुव्रतोंका उपकार करें, उनकी रक्षा और वृद्धि करें, उन्हें गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत के तीन भेद होते हैं—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत।

१ दिग्व्रत—दशों दिशाओंमें जाने आनेका जीवन-पर्यन्तके लिए नियम करके फिर उसकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना सो दिग्व्रत कहलाता है। इस दिग्व्रतके धारण करने वाले पुरुषके अणुव्रत, दिग्व्रत की सीमाके बाहर वाले क्षेत्रमें स्थूल वा सूक्ष्म सर्व प्रकार के पापोंकी निवृत्ति हो जाने के कारण महाव्रत की परिणतिको प्राप्त हो जाते हैं▮, अर्थात् मर्यादाके बाहर वाले क्षेत्रमें जाने आनेका अभाव हो जानेसे इस व्रत वाले पुरुषको वहां किसी प्रकार का पाप नहीं लगता। मनुष्य इस शरीरसे त्रैलोक्य में जा भी तो नहीं सकता, फिर क्यों न आवश्यकता के अनुसार दशों दिशाओं का परिमाण करके वहांके पापसे बचने का प्रयत्न करे।

❤धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥
रत्नकरंडश्रावकाचार

▮अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पंचमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥
रत्नकरंड श्रावकाचार

२ देशव्रत—जीवन-पर्यन्तके लिए की हुई दिग्व्रतकी सीमाके भीतर भी प्रतिदिन कालकी मर्यादाके साथ ग्राम,गली गृह, बाग बाजार आदि के आश्रयसे जाने आने का प्रमाण करके उसके बाहर नहीं जाना आना सो देशव्रत नामका दूसरा गुणव्रत है। इस व्रतके धारण करने से यह लाभ है कि प्रतिदिन जितनी दूर जाने आने का नियम लिया है, उससे बाहर की जितनी समस्त दिग्व्रतकी सीमा है, वहां नहीं जाने आनेके कारण पांचों पापों का सर्वथा त्याग होजाता है और इस प्रकार उतने क्षेत्रमें सहज ही महाव्रतों की साधना श्रावकके हो जाती है*।

३ अनर्थदंडव्रत—जिन कार्योंके करने से श्रावक को कोई आत्मिक लाभ नहीं है ऐसे व्यर्थके पापोंके त्याग करने को अनर्थदंडव्रत कहते हैं। ये अनर्थदंड पांच प्रकार शास्त्रकारों ने बतलाये हैं:-१ अपध्यान, २ पापोपदेश, ३ प्रमादचर्या, ४हिंसादान ५ दुःश्रुति।

१ अपध्यान-अनर्थदंड—द्वेषसे किसीके धनकी हानि सोचना, रागसे किसीके धनका लाभ सोचना, किसी की जीत और किसी की हार विचारना सो अपध्यान नामका अनर्थदंड है। अमुक पुरुषकी स्त्री बहुत सुन्दर है, अमुक बहुत बदमाश है इत्यादि

---

*सीमांतानां परतः स्थूलेतरपंचपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥
रत्नकरंड श्रावकाचार

प्रकार राग-द्वेषमयी बुरे विचार इसी अनर्थदंडके अन्तर्गत जानना चाहिए।

२ पापोपदेश—खेती, व्यापार आदि आरंभ-समारंभ-वर्धक पाप कार्यों का उपदेश देना पापोपदेश नाम का अनर्थदंड है।

३ प्रमादचर्या—बेकार पृथिवी खोदना, पानी ढोलना, आग-जलाना, पंखा चलाना, वृक्ष आदि कटवाना और निष्प्रयोजन इधर-उधर डौड़ना, घूमते फिरना सो प्रमादचर्या नामका अनर्थदंड है।

४ हिंसादान—हिंसाके साधनभूत फरशा, कृपाण, तलवार, धनुष, हल, अग्नि आदिका दूसरों को स्वयं या मांगने पर देना, हिंसादान नामका अनर्थदंड है।

५ दुःश्रुति—राग-द्वेषको बढ़ाने वाली और चित्तको कलुषित करने वाली आरंभ, परिग्रह, मिथ्यात्व, युद्ध, रास-रंग शृंगार आदि की कथाओंका सुनना सो दुःश्रुति नामका पांचवां अनर्थदंड है।

इन पांचों प्रकारके तथा इसी प्रकारके अन्य भी अनर्थदंडोंका त्याग करना सो अनर्थदंड त्याग नामका तीसरा गुणव्रत है। इस प्रकार तीनों गुणव्रतोंका स्वरूप कहा

अब चार शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हैं—जिनके परिपालनसे मुनि-व्रतके धारण करनेकी शिक्षा मिले उन्हें शिक्षा-व्रत कहते हैं। वे चार हैं—१ सामायिक शिक्षाव्रत, २ प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत, ३ भोगोपभोग परिणाम शिक्षाव्रत, ४ अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत।

१ सामायिक शिक्षाव्रत—हृदयमें समता भाव धारण करके प्रातः काल, मध्यान्ह और सायं काल इन तीनों संध्याओंमें सामायिक करना सो सामायिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिकका उत्कृष्टकाल ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य २ घड़ी मानागया है। सो जिसकी जैसी शक्ति हो, उतने समयके लिये पाँचो पापोंका मन, वचन, कायसे बिलकुल त्यागकरके प्राणिमात्र पर समता और मित्रताका भाव रखते हुए आत्मस्वरूपका चिन्तवन करना चाहिए*। सामायिकके कालमें ॐ, 'सिद्ध' आदि अनादि मूलमंत्राक्षरोंका जाप, स्तोत्रपाठ, सिद्ध भक्ति आदिका पाठ भी किया जा सकता है, पर यह सब परम शान्तिसे करना चाहिए। सामायिक एकान्त शान्त और उपद्रव-रहित स्थानमें करना चाहिए।

२ प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत—एक बार भोजन करनेको प्रोषध कहते हैं। एक मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी होती हैं, इन्हें पर्व माना गया है। इन चारों ही पर्वोंके दिन सर्व पाप-आरम्भ छोड़ कर एकाशनपूर्वक उपवास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं♥। यह प्रोषधोपवास उत्तम १६ पहर का, मध्यम १२ पहरका

---

*आसमयमुक्ति मुक्तं पंचाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति॥
रत्नकरंडश्रावकाचार

♥चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
सप्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति॥
रत्नकरंडश्रावकाचार

और जघन्य ८ पहरका कहा गया है। उत्तम प्रोषधोपवासमें उपवासके पहले और पिछले दिन एक-एक एकाशन करना पड़ता है। मध्यम प्रोषधोपवासमें उपवासके पहले दिन एकाशन करना आवश्यक है और जघन्य प्रोषधोपवासमें पर्वके दिन ही उपवास करनेका विधान है। उपवासके दिन स्नान, तैलमर्दन, अलङ्कार धारण आदिका त्याग आवश्यक बताया गया है। हाँ जिनपूजाके निमित्त प्रासुक जलसे स्नान कर सकता है।

३ भोगोपभोग-परिमाण शिक्षाव्रत—जो भोजनादि पदार्थ एकबार सेवन करनेमें आते हैं, उन्हें भोग कहते हैं। जो वस्त्रादि पदार्थ बार बार उपयोगमें आते हैं उन्हें उपभोग कहते हैं। भोग और उपभोग की वस्तुओंका आवश्यकतानुसार नियम करके शेषमें ममता भावको दूर करना सो भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत है* इन्द्रियोंके विषय-भोगकी बढ़ती हुई तृष्णाके निवारण करने के लिये इस शिक्षाव्रतका पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। अभक्ष्य आदि पदार्थोंका जीवन-पर्यन्तके लिए जो त्याग किया जाता है, उसे यम कहते हैं और भक्ष्य वस्तुओंका कुछ समयके लिए जो त्याग किया जाता है उसे नियम कहते हैं। इन

---

*अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥
भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पंचेन्द्रियो विषयः॥
रत्नकरंडश्रावका०

दोनों का धारण करना इस शिक्षाव्रत-धारीको आवश्यक है। इसी प्रकार श्रावकोंके जो १७ नियम अन्य शास्त्रोंमें बताये हैं, वे भी इसी शिक्षाव्रतके अन्तर्गत जानना चाहिये।

४—अतिथि संविभाग-शिक्षाव्रत—मुनि आदि अतिथिके लिये आहार, औषधि आदिके दान देनेको अतिथि संविभाग कहते हैं। जिसके तिथिका विचार नहीं, अर्थात् जो सदाकाल व्रती है, ऐसे मुनिको अतिथि कहते हैं, अपने भोजन आदिमें से दान देने को संविभाग कहते हैं। इस दानके चार भेद कहे गये हैं:— आहार दान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान। शरीरके निर्वाहके लिये तथा निराकुलता-पूर्वक धर्मसाधनके लिये आहार और औषधि दान देने की आवश्यता है तथा आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रदानकी और आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये अभय दानकी आवश्यकता है। अतएव श्रावकको चारों प्रकारका दान विधिपूर्वक भक्तिके साथ पुण्योदय से उपलब्ध उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रको प्रति-दिन देना चाहिये।

इस प्रकार श्रावकके बारह व्रत कहकर, उनके अतीचारोंको छोड़ने और मरते समय संन्यास धारण करनेका विधान करते हुए श्रावकके व्रतोंका फल कहते हैं:—

बारह व्रतके अतीचार पन पन न लगावे,
मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नशावे।

यों श्रावक व्रत पाल स्वर्ग सोलह उपजावे,
तहँतें चय नर जन्म पाय मुनि ह्वै शिव जावै* ॥१४॥

अर्थ—पहले कहे हुए अहिंसाणुव्रत आदि प्रत्येक व्रतके पांच-पांच अतिचार शास्त्रों में बतलाये गये हैं, उन्हें नहीं लगने देना चाहिए और मरण के समय संन्यास को धारण करके उसके भी दोषों (अतिचारों) को दूर करना चाहिए। इस प्रकार जो मनुष्य श्रावक के व्रतों को पालता है, वह मर कर सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है और वहां से चय करके मनुष्य जन्म पाकर और मुनि धर्म को धारण करके कर्मों का नाश करके मोक्ष को जाता है।

विशेषार्थ—व्रतभंग न हो जाय, इस प्रकार की अपेक्षा या सावधानी रखते हुए भी विषयों की उद्दाम प्रवृत्ति या कषायोंके आवेशसे व्रत के एक देश भंग हो जाने को अतिचार कहते हैं। श्रावक के ऊपर जो बारह व्रत बतलाये गये हैं, उनमें से प्रत्येक के ५-५ अत्तिचार कहे गये हैं। अब यहां पर क्रमसे उनका वर्णन करते हैं:—

(१) अहिंसाणुव्रत के अतिचार—किसी जीवके हाथ पांव आदि अंग और नाक, कान आदि उपांगों का काटना, उन्हें छेद

---

* एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तमन्त्यसल्लेखनाव्रतम्।
स्वर्गापवर्गसौख्यानां सुधापानाय जायते ॥२४५॥
लाटी संहिता सर्ग ६

कर दुःख पहुँचाना छेदन—नामक अतिचार है १। गाय-भैंस आदिको रस्सी आदिसे बांध कर रोके रखना बंधन नामका अतिचार है २। जीवोंको लकड़ी, कोड़ा, चाबुक आदिसे मारना पीटना, पीड़न नामका अतिचार है ३। जो पशु या मनुष्य विना किसी कष्टका अनुभव किये जितना बोझा लादकर ले जा सकता है उससे अधिक भारका लादना अति-भारारोपण—नामका अतिचार है ४। अपने अधीन नौकर चाकर और गाय-भैंस आदिको समय पर खाना पीना न देकर भूखा प्यासा रखना अन्न-पाननिरोध नामका अतिचार है ५*। यहां इतना विशेष जानना कि प्रमाद या कषायके वश होकर जो मार-पीट आदिकी जाती है उससे ही व्रतमें अतिचार लगता है अन्तरङ्गमें सुधारकी भावनासे किसी अपराधीको दंड देने पर अतिचार नहीं लगता।

(२) सत्याणुव्रतके अतिचार—शास्त्रके विरुद्ध कुछका कुछ झूठा उपदेश देना मिथ्योपदेश नामका अतिचार है इसे परिवाद भी कहते हैं १। स्त्री पुरुष आदिकी गुप्त बातचीत या गुप्त आचरणको बाहर प्रगट करदेना रहोभ्याख्यान नामका अतिचार है २। किसीके मुख-विकार आदि चेष्टासे उसके मनका गुप्त अभिप्राय जान कर ईर्ष्यासे दूसरेको कह देना, किसीकी गुप्त-मन्त्रणा को प्रगट कर उसका भण्डा फोड़ कर देना पैशुन्य नामक का अतिचार

---

*छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पंच॥

रत्नकरण्ड०

है, इसेही साकार-मन्त्रभेद कहते हैं ३। दूसरों को ठगनेके अभिप्रायसे झूठे बही खाते बनाना, नकली चिट्ठी स्टाम्प आदि लिखना जाली दस्तावेज तैयार करना इत्यादि प्रकारके कार्योंको कूटलेखक्रिया नामका अतिचार कहते हैं ४। किसीकी धरोहरको भूलसे कम माँगने पर हड़प जाना न्यासापहार नामका अतिचार है ५*। जैसे कोई पुरुष रुपया जेवर आदि द्रव्यको धरोधर रखगया। कुछ समय पीछे अपने द्रव्यको उठाने आया और भूलकर कुछ कम माँगने लगा, तो उससे इस प्रकार भोले बन कर कहना कि भाई, जितना तुम्हारा हो सो ले जाओ, इस प्रकार जानबूझ कर दूसरेके कुछ द्रव्य को हड़पने के वचन बोलना सो न्यासापहार नामका सत्याणुव्रतका अतिचार होता है। यदि वह उस द्रव्यको हड़प जाता है, तो वह तो प्रत्यक्ष चोरी ही है जो अतिचार न होकर अनाचार ही कहलायगा।

(३) अचौर्याणुव्रतके अतिचार—स्वयं चोरीके लिए जाते हुए या चोरी करते हुए पुरुषको चोरीके लिए प्रेरणा करना या दूसरे से प्रेरणा कराना, या अनुमोदना करना सो चौर-प्रयोग नामका अतिचार है। यदि वह किसी नये आदमी से जो चोरी नहीं करता है, उसे यदि चोरीके लिए भेजता है, तो अतिचार न रहकर अनाचार कहलायगा क्योंकि वह तो साक्षात् चोरी

---

*परिवादरहोभ्याख्या पैशुन्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पंच सत्यस्य ॥
रत्नक०

ही है, वर्तमान का कानून भी ऐसे पुरुषको चोरीके अपराधमें ही गिनता है १। जिस पुरुषको हमने चोरीके लिए मन वचन और कायसे किसी भी प्रकार प्रेरित नहीं किया है, वह यदि चुराकर कुछ द्रव्य लाया है, तो उसे अल्प मूल्य आदि देकर लेना चौरार्थादान नामका अतिचार कहलाता *है। यथार्थ में और वर्तमान कानूनके अनुसार भी यह चोरी ही है और इसीलिए यह अनाचार माना जाना चाहिए, परन्तु चोरीका माल लेने वालेके हृदयमें यदि इतना ही विकल्प उठे कि मैं तो पैसा देकर यह वस्तु ले रहा हूँ, यह तो व्यापार है, इतनी सी अपेक्षा के कारण उसे अतिचार कहा है। वस्तुतः जानते हुए चोरीके मालको लेनेसे व्रतका भंगका हो ही जाता है २। राजाके मर जाने पर, या राज्यमें साम्प्रदायिक उपद्रव, दंगा, फिसाद होने पर बहु मूल्य वस्तुओंको अल्पमूल्यसे लेनेका प्रयत्न करना, अपने अधीन जमीनकी सीमा बढ़ा लेना, किसीके भाग जाने या दंगा आदिमें मारे जाने पर उसके मकान आदि पर कब्जा आदि कर लेना सो विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतिचार है। इसीका दूसरा नाम विलोप है, क्योंकि शांतिकालके जितने नियम कानून हैं, उन सबका राज्य क्रान्ति, दंगा, युद्ध आदि होने पर लोप हो जाता है ३। असली सोनेमें पीतल मिला देना

---

*चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमानं पंचास्तेये व्यतीपाताः

रत्नकरण्ड०

चांदीमें रांगा मिला देना, घीमें तत्सम रंगवाला तेल मिला देना, इस प्रकार अधिक मूल्यकी वस्तुमें कम मूल्यकी समान वस्तुको मिलादेना सो सदृशसन्मिश्र नामका अतिचार है ४। यथार्थ में सदृशसन्मिश्र करते हुए चोरीकी भावना पाई जाती है, अतः एक व्रतका भंग तो हो ही जाता है, पर करने वाला कहता है कि मैंने किसीके ऊपर डाका नहीं डाला है, या सेंध नहीं लगाई है, केवल व्यापार कला ही मैंने दिखाई है, इतने मात्रकी अपेक्षासे इसे अतिचार कहा है। पर वर्तमान कानूनके अनुसार यह महान् अपराध है और वस्तुतः चोरी ही है। ४। दुकान या घर आदि पर देनेके लिये नापने तौलनेके बांटोंको अधिक वजन या नापके रखना सो हीनाधिकविनिमान नामका अतिचार है ४। वर्तमान कानूनके अनुसार तो यह भी महान अपराध है और इसके करते हुए व्रतभङ्ग होता ही है, किन्तु करने वाला ऐसा मानता है कि मैंने तो केवल यह वणिक्कला दिखाई है, चोरी थोड़े ही की है। इस विषयको नीतिवाक्यामृतकारने बड़े सुन्दर शब्दोंमें कहा है कि "न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतोहराः*" अर्थात् बनियोंसे अधिक और कोई चोर नहीं, वे चोर तो सोतेमें, पीठपीछे चोरी करते हैं, परन्तु ये बनिये तो आँखके सामने देखते-देखते ही चोरी कर लेते हैं। इसी सूत्रकी टीकामें टीकाकार एक प्राचीन पद्यका उल्लेख करते हुये कहते हैं कि:—

---

*नीतिवाक्यामृत, वार्त्तासमुद्देश. सूत्र १७।

मानेन किंचिन्मूल्येन किंचित्—
तुलयापि किंचित्कलयापि किंचित् ।
किंचिच्च किंचिच्च गृहीतुकामाः,
प्रत्यक्षचौरा वणिजो नराणाम् ॥ १ ॥

अर्थात् ये दुकानदार बनिये पहले तो बाँट ही कमती रखेंगे, फिर मूल्यमें तेज देंगे फिर तराजूके पलड़े हलके और भारी रखेंगे और इसके बाद डांडी मारनेकी कलाका भी कुछ उपयोग करेंगे, इस तरह हर प्रकार कुछ न कुछ कम देने वाले ये बनिये मनुष्योंके प्रत्यक्ष चोर हैं। ऐसा जान कर नाप-तौलमें ईमानदारी रखना चाहिए और जहाँ चोरीके द्रव्य होनेकी शंका हो, उस वस्तुको हाथ ही नहीं लगाना चाहिए। अतिचारकी आड़में अनाचार नहीं करना चाहिए।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार—पराये लड़के लड़कियोंके विवाह कराना परविवाहकरण नामका अतिचार है। ब्रह्मचर्याणुव्रती अपने और अपने सम्बन्धियोंके पुत्रादिकोंका तो विवाह कर सकता है, परन्तु जो पर-वर्गके पुरुष हैं, जिनसे कोई सम्बन्ध या रिश्ता नहीं है उनके पुत्रादिकोंके विवाह न करे, न करावे और न अनुमोदना ही करे १*। काम-क्रीड़ा के अङ्गोंको छोड़कर

*अयं भावः स्वसम्बन्धिपुत्रादींश्च विवाहयेत् ।
परवर्गविवाहांश्च कारयेन्नानुमोदयेत् ॥७४॥
लाटीसंहिता सर्ग ६.

अन्य अङ्गोंसे काम-क्रीड़ा करना सो अनङ्गक्रीड़ा नामका अतिचार है २। रागसे हंसी मिश्रित भण्ड वचन बोलना, कायसे कुचेष्टा करना सो विटत्व नामका अतिचार है ३। काम-सेवनकी अत्यन्त अभिलाषा रखना, या काम क्रीड़ामें अधिक मग्न रहना सो कामतीव्राभिनिवेश नामका अतिचार है ४। व्यभिचारिणी स्त्रियोंके घर आना जाना उनसे हँसी मजाक आदि करना सो इत्वरिकागमन नामका अतिचार है ५ ❀।

(५) परिग्रहपरिमाण-अणुव्रतके अतिचार—घोड़ा, बैल आदि जितनी दूर आरामसे जा सकते हैं, उससे भी अधिक दूर तक लोभके वश होकर जोतना सो अतिवाहन नामका पहला अतिचार है। लोभके वशीभूत होकर मुनाफा कमानेकी गर्जसे धन-धान्यादिका अधिक संग्रह करना सो अतिसंग्रह नामका दूसरा अतिचार है। व्यापारके निमित्त जितना धान्य आदि खरीद कर रखा था, उसके बेचनेसे अधिक मुनाफा मिलने पर यह सोचकर पश्चात्ताप करना कि यदि हमने इतना अधिक और खरीदकर रख लिया होता, तो आज खूब लाभ होता। यह विस्मय नामका तीसरा अतिचार है। संगृहीत वस्तुके बेचने पर काफी मुनाफा मिलते हुए उसे इस भावनासे नहीं बेचना कि अभी तो और भी भाव बढ़ेगा और खूब मुनाफा मिलेगा। यह अतिलोभ

❀ अन्यविवाहकरणानंगक्रीडा विटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पंचव्यतीचाराः
रत्नकरण्ड०

नामका अतिचार है। बैल, घोड़ा आदि अपने अधीन पशुओं, मजदूरों, और नौकर चाकरों पर लोभावेशसे अधिक भारका लादना सो अतिभार नामका पाँचवाँ अतिचार है❤।

अब गुणव्रतोंके अतिचार कहते हैं:—

(१) दिग्व्रतके अतिचार:—जीवन पर्यन्तके लिए जो ऊपर जानेकी सीमा निश्चित की थी, आवश्यकता पड़ने पर उसे बढ़ा लेना सो ऊर्ध्वातिक्रम नामका पहला अतिचार है। इसी प्रकार नीचे जानेकी सीमाको बढ़ालेना अधोव्यतिक्रम नामका दूसरा अतिचार है और पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओंमें से तिरछे आने जानेकी मर्यादाको बढ़ा लेना सो तिर्यग्व्यतिक्रम नामका तीसरा अतिचार है। अज्ञानसे, प्रमादसे, भूलसे या आवश्यकताकी विवशतासे किसी एक दिशाकी मर्यादा घटाकर दूसरी ओरकी दिशा-सम्बन्धी मर्यादाको बढ़ालेना सो क्षेत्रवृद्धि नामका चौथा अतिचार है। दिग्व्रतको धारण करते समय जो दिशाओंकी मर्यादा की थी, उसे भूल जाना सो सीमाविस्मृति नामका पाँचवाँ अतिचार है❀।

❤अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते॥

रत्नक०

❀ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पंच मन्यन्ते॥

रत्नक०

(२) देशव्रतके अतिचार:—वर्ष, मास, पक्ष, दिन आदिके लिये देशव्रतमें जितने क्षेत्रका परिमाण कर लिया है, उससे बाहर किसी व्यक्तिको या नौकर आदिको भेजना प्रेषण नामका पहला अतिचार है। मर्यादाके बाहर स्थित पुरुषको शब्द सुनाकर अपना अभिप्राय प्रगट करना शब्दश्रावण नामका दूसरा अतिचार है। मर्यादासे बाहरवाले क्षेत्रसे किसीको बुलाना, या कोई वस्तु मंगवाना सो आनयन नामका तीसरा अतिचार है, मर्यादित क्षेत्रसे बाहर काम करने वाले पुरुषको हाथ आदिसे संकेत करना रूपाभिव्यक्ति नामका चौथा अतिचार है। इसी प्रकार मर्यादासे बाहरवाले पुरुषको कंकर, पत्थर आदि फेंक कर इशारा करना बुलाना, सो पुद्गलक्षेप नामका पाँचवाँ अतिचार है❤।

(३) अनर्थदंडव्रतके अतिचार—राग-भावकी अधिकतासे हँसी मजाकके साथ अशिष्ट और भण्ड वचन बोलना कन्दर्प नामका पहला अतिचार है। हँसी मजाक करते हुए कामकी कुचेष्टा करना कौत्कुच्य नामका दूसरा अतिचार है। धृष्टतापूर्वक बहुत बकबाद करना, अनर्थक बातचीत करना, प्रलाप करना सो मौखर्य नामका तीसरा अतिचार है। भोग और उपभोगकी वस्तुओंको आवश्यकतासे अधिक रखना सो अति प्रसाधन या भोगानर्थक्य नामका चौथा अतिचार

❤प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पंच ॥

रत्नक०

है। प्रयोजन को बिना विचारे आवश्यकता से अधिक किसी कामको करना या कराना सो असमीक्ष्याधिकरण नामका पाँचवाँ अतिचार है❀। जैसे भोजन करने को बैठते समय यदि एक लोटा जलकी आवश्यकता है तो हंडा जल भरकर बैठना♥, इसी प्रकार घास, लकड़ी आदि लाने वाले किसी आदमीसे कहना कि गाड़ी भर करलेते आओ। जितनेसे हमें प्रयोजन होगा, हम रख लेंगे, बाकी बिकवा देंगे खरीदने वाले अधिक हैं, इत्यादि*।

अब चार शिक्षाव्रतोंके अतिचार कहते हैं:—

(१) सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार—सामायिकको करते समय मनको इधर-उधर चलायमान करना, स्थिर नहीं रखना मनोदु:प्रणिधान नामका पहला अतिचार है। सामायिकके समय

❀कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पंच।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदंडकृद्विरते:॥

रत्नक०

♥यथाऽऽहारकृते यावज्जलेनास्ति प्रयोजनम्।
नेतव्यं तावदेवात्र दूषणं चान्यथोदितम्॥१४५॥

लाटीसं० सर्ग० ६

*यथा बहुमपि कटमानयत, यावता मे प्रयोजनं तावदहं क्रेष्यामि, शेषमन्ये बहवोऽर्थिन: सन्ति तेऽपि क्रेष्यन्ति, अहं विक्राययिष्यामीत्येवमनालोच्य बह्वारम्भतृणाजीविभि: कारयति॥

सागारधर्मा० टीका अ०५ श्लो० १२.

सामायिक पाठको जल्दी बोलना, कुछका कुछ बोलने लगना, किसीके कुछ पूछने पर हाँ, हूँ आदि करना सो वचोदु:प्रणिधान नामका दूसरा अतिचार है। सामायिक करते समय हाथ पाँव, आदिको हिलाना, ठीक आसन नहीं मारना, हाथके इशारेसे किसीको बुलाना, संकेत आदि करना आदि कायदु:प्रणिधान नामका तीसरा अतिचार है। सामायिक करनेमें आदर और उत्साह नहीं रखना, नियत समय पर सामायिक नहीं करना, जिस किसी प्रकारसे यद्वा तद्वा पाठ आदि पढ़के पूरा करना सो अनादर नामका चौथा अतिचार है। सामायिक करना ही भूल जाना, या सामायिक पाठको पढ़ते हुए चित्तके अन्यत्र चले जाने से सामायिक की क्रियाओंको भूलजाना सो अस्मरण नामका पाँचवाँ अतिचार है*।

(२) प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार:—उपवासके दिन बिना देखे बिना शोधे पूजाके उपकरण शास्त्र वगैरहको घसीट कर उठाना अदृष्टमृष्टग्रहण नामका पहला अतिचार है। इसी प्रकार उपवासके दिन बिना देखी बिना शोधी भूमि पर मल-मूत्रादि करना सो अदृष्टमृष्ट-विसर्ग नामका दूसरा अतिचार है। उपवासके दिन विना देखी, विना शोधी बिना साफ की हुई भूमि पर बैठना, विस्तर चटाई आदि बिछा देना सो अदृष्ट-

---

*वाक्कायमानसानां दु:प्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पंच भावेन ॥
रत्नक०

मृष्टास्तरण नामका तीसरा अतिचार है। उपवासके दिन भूख आदिसे पीड़ित होनेके कारण आदर और उत्साह नहीं रखना सो अनादर नामका चौथा अतिचार है। उपवास के दिन जिन क्रियाओंकी अतात्यन्त आवश्यकता है, उन्हें प्रमाद, कषायावेश भूखादि किसी कारणसे भूल जाना सो अस्मरण नामका पाँचवाँ अतिचार है*। प्रवासमें रहने आदि किसी अन्य कारणसे अष्टमी चतुर्दशी आदि तिथिको ही भूल जाना सो भी इसी पाँचवें अतिचारके अन्तर्गत जानना चाहिये।

(३) भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचारः—पंचेन्द्रियोंके विषय रूपी विषसे उदासीनता न होकर उनमें आदर बना रहना सो अनुपेक्षा नामका पहला अतिचार है। विषय-भोग कर लेनेके पश्चात् भी पुनः पुनः उसकी याद आना, किसी नवीनमिष्टान्न आदिके खा लेनेके बाद भी बार बार उसकी याद आना सो अनुस्मृति नामका दूसरा अतिचार है। वर्तमान कालमें उपलब्ध भोग-उपभोगके साधनोंमें अत्यन्त गृद्धि रखना सो अतिलौल्य नामका तीसरा अतिचार है। भविष्यत्कालमें हमें अमुक भोग-उपभोगकी* प्राप्ति होती रहे इस प्रकारकी आकांक्षा करना सो अतितृषा नामका चौथा अतिचार है। अतीत (भूत) कालमें सेवन किये हुये भोग-उपभोगोंका वर्तमानमें उपभोग नहीं करते

---

*ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपंचकं तदिदम् ॥

रत्नक०

हुये भी उपभोग करते हुएके समान अनुभव करना सो अत्यनुभव नामका पाँचवाँ अतिचार है❤।

(४) अतिथि संविभाग-शिक्षाव्रतके अतिचार:—साधु आदि अतिथिजनों के देने योग्य आहार को सचित्त हरे कमलपत्र आदिसे ढँक देना सो हरितपिधान नामका पहला अतिचार है°। दानके योग्य अन्न, औषधि चटनी आदिको सचित्त पत्ते आदि पर रख देना सो हरित निधान नामका दूसरा अतिचार है। अतिथि जनोंको भक्तिके साथ कर्तव्य बुद्धिसे दान न देकर लोक लिहाजसे दान देना, दानमें आदर भाव न रखना सो अनादर नामका तीसरा अतिचार है। कभी कभी दान देना ही भूल जाना, नियत समय पर दान नहीं देना, आगे-पीछे देना सो अस्मरण नामका चौथा अतिचार है, इसे ही अन्य आचार्योंने कालातिक्रम नामका अतिचार कहा है। दूसरे दाताके दानको नहीं देख सकना, अपने दिये दानका गर्व करना-कि अमुक पुरुष हमारे दानकी

❤विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमा-व्यतिक्रमा पंच कथ्यन्ते ॥

रत्नक०

°हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥

रत्नक०

क्या बराबरी कर सकता है, इत्यादि प्रकार से ईर्ष्याभाव रखना, सो मात्सर्य नामका पांचवा अतिचार है*।

इस प्रकार श्रावकके बारह व्रतोंके पांच-पांच अतिचारोंका वर्णन किया। श्रावक को चाहिए कि उक्त व्रतोंको पालते हुए अतिचारोंको पूर्ण सावधानीके साथ बचाते रहें, अन्यथा व्रतमें निर्मलता नहीं रह सकती है।

ग्रन्थकारने अन्तमें जिस समाधि मरणकी ओर संकेत किया है उसका यहां पर संक्षिप्त वर्णन किया जाता है:—जीवनका अन्त आजाने पर, या जिसका प्रतीकार (इलाज आदि) संभव न हो ऐसे रोग, उपसर्ग, बुढ़ापा आदि आजाने पर धर्मकी रक्षाके लिए अपने शरीरके त्याग करने को संन्यास कहते है। समाधि-मरण और सल्लेखना भी इसके नाम हैं। सम्यक् प्रकार शरीर के न्यास (त्याग) को संन्यास कहते हैं। सावधानी पूर्वक मरना सो समाधिमरण है। काय और कषायों को भले प्रकारसे कृश करना सल्लेखना कहलाता है♥।

---

*प्रयच्छन्नच्छमन्नादि गर्वमुद्वहते यदि।
दूषणं लभते सोऽपि महामात्सर्यसंज्ञकम् ॥२३०॥
लाटीसंहिता सर्ग ६

♥उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥ रत्नक०
सम्यक्काककषायलेखना सल्लेखना॥
सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सूत्र २०.

इस सल्लेखना या समाधिमरणकी विधि यह है कि जब अपना मरण निश्चित जान ले, तब अपने सब कुटुम्ब परिवार और बन्धु जनोंसे स्नेह छोड़ दे, शत्रुओंसे वैर भाव छोड़दे, और अत्यन्त विनम्र भावसे सब जनोंसे प्रिय वचनों द्वारा क्षमा कराकर स्वयं भी सब जनोंको क्षमा करे। तत्पश्चात् किसी योग्य निर्यापकाचार्य (समाधिमरण करानेमें अत्यन्त कुशल-महासाधु) के पास जाकर समस्त परिग्रहादिको छोड़कर शुद्ध और प्रसन्न चित्त होकर अपने इस जीवन-सम्बन्धी सर्व पापोंकी निश्छल भावसे आलोचना करे, तथा मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदनासे जीवन पर्यन्तके लिए पांचों पापोंका सर्वथा त्यागकर महाव्रतों को धारण करे❤। पुनः शोक, भय, विषाद, स्नेह, कालुष्य और राग द्वेषको छोड़कर अमृतमय शास्त्र-वचनोंसे आत्माको तृप्त करे, मनको प्रसन्न करे। और अपने बल-वीर्यको प्रकट कर, उत्साहित हो पहले आहारका क्रमशःत्याग करे और दुग्ध आदि स्निग्ध पान पर रहे। तदनन्तर स्निग्ध पान को भी त्यागकर कांजी, गरम पानी आदि खरपान पर रहे। तत्पश्चात् क्रमसे खरपानका भी त्याग कर और कुछ

❤स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥
रत्नक०

दिनों तक शक्ति के अनुसार निर्जल उपवास करे। जब देखे कि अन्तिम समय आगया है तो पंचनमस्कार मंत्रका स्मरण करते हुए पूरी सावधानीके साथ शरीर त्याग करे*।

यह समाधिमरणकी विधि है। आत्म कल्याणके इच्छुक पुरुषों का कर्तव्य है कि जीवनके अन्तमें इस संयासको अवश्य धारण करें। जिन भगवान् ने इस संन्यासको जीवन भरकी तपस्या का फल कहा है, इसलिए जब तक शरीर में शक्ति रहे, होश-हवाश ठिकाने रहें, तब तक समाधि-मरणमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए*।

श्रावकके बारह व्रतोंके समान समाधिमरणके भी पाँच अतिचार बतलाए गये हैं, समाधिमरण करनेवाले पुरुषको उनका त्याग करना चाहिये।

समाधि मरणके अतिचार—समाधि मरण स्वीकार कर लेने के पश्चात् शरीरको स्वस्थ होता हुआ देखकर जीनेकी इच्छा

---

*शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंच नमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन॥

रत्नक०

*अन्तः क्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्

रत्नक०

करना सो जीविताशंसा नामका पहला अतिचार है, संन्यास धारण करनेके पीछे शरीरमें रोगादि उपद्रव बढ़ जानेके कारण उनका कष्ट न सह सकनेसे अधीर हो जल्दी मरनेकी आकांक्षा करना सो मरणाशंसा नामका दूसरा अतिचार है। समाधिमरण धारण करनेके पीछे भूख, प्यास आदिकी पीडासे डरना इहलोक भय है। इस प्रकार की दुद्धर कठिन तपस्याका फल मुझे परलोकमें मिलेगा कि नहीं, ऐसा विचार करना सो परलोक भय है। इस प्रकार के भयोंसे व्याकुल होना सो भय नामका तीसरा अतिचार है। बचपनसे लेकर आज तक जिन लोगोंके साथ मित्रता का स्नेह संबंध स्थापित हुआ, समाधिशय्या पर पड़े हुए उनकी याद करना सो मित्रस्मृति नामका चौथा अतिचार है। समाधि मरण धारण करनेके फल से आगामी भवमें भोगादिकी आकांक्षा करना सो निदान नामका पांचवा अतिचार है*। समाधि मरणको धारण कर इन पांचों दोषोंसे बचना चाहिए।

इस प्रकार निर्दोष श्रावक व्रतों को पालन करने वाला व्यक्ति नियमसे सोलहवें स्वर्ग तक यथायोग्य देवेन्द्रादिके उत्कृष्ट पद पाता है और वहांसे चयकर मनुष्य भव पाकर उसी भवमें या कुछ भवके पश्चात् नियमसे मोक्ष जाता है।

चौथी ढाल समाप्त

---

*जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समादिष्टाः॥

रत्नक०

पाँचवीं ढाल

ग्रन्थकार इस ढालमें बारह भावनाओंका वर्णन करेंगे बारह भावनाओंका चिन्तवन कौन और क्यों करता है तथा इनके चिन्तवनसे क्या लाभ है इस बातको दो पद्यों से ग्रन्थकार वर्णन करते हैं:—

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगनतैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तौ अनुप्रेक्षा भाई ॥१॥
इन चिन्तत समसुख जागै, जिमि ज्वलन पवनके लागै।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिव सुख ठानै ॥२॥

अर्थ—बड़े भाग्यवान् और सकल चारित्रके धारक मुनिराज संसार और इन्द्रिय भोगोंसे विरागी रहते हैं, इसलिए हे भाई तुम्हें भी वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए अनुप्रेक्षा (बारह भावना) का चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि इन बारह भावनाओंका चिन्तवन करनेसे समता रूपी सुख प्रगट होता है जैसे कि पवन के लगनेसे अग्नि की ज्वाला प्रगट होती है। जब यह जीव आत्माके स्वरूप को पहिचान लेता है तभी वह मोक्ष-सुखका अनुभव कर पाता है। कहनेका सारांश यह है कि समता भाव को जागृत करनेके लिए बारह भावनाओंका चिन्तवन करना अत्यन्त आवश्यक है, अत एव उन्हें निरन्तर भावे।

अब अनित्य भावना का स्वरूप कहते हैं:—

जोवन गृह गोधन नारी-हय गय जन आज्ञा-कारी।
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥३॥

अर्थ —युवावस्था, घर, गाय-भैंस, धन, स्त्री, घोड़ा, हाथी, आज्ञाकारी परिवार के लोग और नौकर-चाकर, तथा इन्द्रियों के भोग ये सब चीजें क्षण भर स्थिर रहने वाली हैं, सदा काल नहीं। जैसे कि इन्द्रधनुष और बिजलीका चमकना।

विशेषार्थ ऐसा चिन्तवन करना कि संसारमें जितनी वस्तुएं उत्पन्न हुई हैं, उनका नियमसे विनाश होगा क्योंकि पर्याय रूपसे कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, सबका सदा परिवर्तन होता रहता है, फिर इन उत्पाद-व्यय-शील पर्यायोंमें मैं क्यों राग द्वेष करू ? देखो इस जगत् में जन्म तो मरणसे संबद्ध है, जवानी बुढ़ापासे लगी हुई है और लक्ष्मी विनाशसहित है, इस प्रकार सभी कुछ क्षण-भंगुर है। ये स्वजन-परिजन, पुत्र-मित्र, धन-गृहादि तथा स्पर्श आदि इन्द्रियोंके विषय, नौकर-चाकर, हाथी, घोड़े, रथ आदि समस्त वैभव इन्द्र-धनुष, नवमेघ और बिजलीके समान चंचल हैं, देखते-देखते ही नष्ट हो जाने वाले हैं। जैसे मार्गमें नाना दिग्-देशान्तरोंके मुसाफिरोंका संयोग एक क्षण-भरके लिए किसी वृक्षके नीचे हो जाता है और फिर सब अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं, इसी प्रकार इस मनुष्य-भवरूपी वृक्षकी छांहमें माता-पिता, भाई-बहिन आदि नाना बन्धु-जनोंका संयोग हो गया है,

सो थोड़े समयके पश्चात् सब अपने-अपने रास्ते जानेवाले हैं, सदा काल कोई रहने वाला नहीं है*, फिर इनके वियोगमें शोक क्यों करना चाहिए ?

देखो, अत्यन्त लाड़-प्यारसे पोषा हुआ, नाना प्रकारके सुगन्धित वस्तुओंसे मर्दन-उवटन किया हुआ, तेल-फुलेलसे संवारा हुआ, तथा नाना प्रकारके उत्तमोत्तम सुस्वादु भोज्य-पदार्थोंसे संस्तृप्त किया हुआ भी यह देह एक क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है जैसेकि मिट्टीका कच्चा घड़ा पानी भरते ही विघट जाता है‡। फिर शरीरके रोगादिसे आक्रान्त होने पर शोक क्यों करना

---

*जं किं पि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण ।
परिणाम सरूवेणवि णय किंपि वि सासयं अत्थि ॥४॥
जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जुव्वणं जरा सहियं ।
लच्छी विणाससहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥५॥
अथिरं परियणसयणं पुत्तकलत्तं सुमित्त लावण्णं ।
गिह गोहणाइ सव्वं णवघण विंदेण सारिच्छं ॥६॥
सुरधणु तडिव्व चवला इंदियविसया सुभिच्च वग्गा य ।
दिट्ठपणट्ठा सव्वे तुरय गयरहवरादीया ॥७॥
पंथे पहिय जणाणं जह संजोओ हवेइ खणमित्तं ।
बंधुजणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ ॥
स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा

‡अइलालिओ वि देहो ण्हाण सुअंधेहिं विविहभक्खेहिं ।
खणमित्तेण वि विहडइ जलभरिओ आमघडउव्व ॥६॥
स्वामिका०

चाहिये ? देखो, जो लक्ष्मी बड़े पुण्यशाली चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंके भी शाश्वत नहीं रही, तो वह इतर हीन-पुण्य वाले लोगोंके कैसे स्थिर रह सकेगी ✱, इसलिये सम्पत्तिके वियोगमें खेद क्यों करना ? इस मोहके माहात्म्यपर आश्चर्य है कि यह जीवसंसारकी सभी कुछ वस्तुओंको, धन, यौवन और जीवनतकको जलके बबूलेके समान क्षण-भंगुर देखते हुए भी उन्हें नित्य मान कर उनमें मोहित हो रहा है। इसलिये हे भव्यजीवो ! अपने महामोहको छोड़ कर और संसारके समस्त संयोगों को वियोग संयुक्त ही निश्चय करो संसारकी कोई वस्तु स्थिर या नित्य नहीं है, अतएव स्थायी आत्मपदमें ही अपनी बुद्धिको लगाओ❀। ऐसा विचार करना सो अनित्य भावना है। इस प्रकार के विचार करनेसे संसारके किसी भी पदार्थमें भोग कर छोड़े हुए उच्छिष्ट

✱जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा किं बंधेइ रइं इयरजणाणं अपुण्णाण ॥१०॥
स्वामिका०

❀ जलबुव्वयसारिच्छं धणजुव्वणजीवियं पिपेच्छंता।
मण्णंति तो वि णिच्चं अइवलिओ मोहमाहप्पो ॥२१॥
चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥२२॥
स्वामिका०

पदार्थके समान रागभाव नहीं रहता, अतएव उसका वियोग होने पर शोक और विषाद भी नहीं उत्पन्न होता है* ।

अब अशरण- भावनाका वर्णन करते हैं:—

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दले ते ।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई ॥ ४ ॥

अर्थ—संसार जिनको शरण देने वाला मानता है, ऐसे सुराधिप (इन्द्र) असुराधिप (नागेन्द्र) और खगाधिप (विद्याधरेश-चक्रवर्ती) भी जब स्वयं कालके द्वारा दल-मले जाते हैं, तब वे औरोंकी क्या रक्षा कर सकते हैं और किसको शरण दे सकते हैं ? किसी को नहीं । जैसे सिंहके मुंहमें से मृगको बचानेके लिए कोई समर्थ नहीं है, ठीक इसी प्रकार संसारी प्राणीको मणि, मंत्र, तंत्र आदि कोई भी—मरनेसे नहीं बचा सकता* ।

विशेषार्थ—संसारमें शरण देने वाले पदार्थ दो प्रकारके माने जाते हैं—लौकिक और लोकोत्तर । ये दोनों ही जीव, अजीव

---

*एवं ह्यस्य चिन्तयतस्तेषु अभिष्वंगाभावात्
भुक्तोज्झितगंधमाल्यादिषु इव वियोगकालेऽपि
विनिपातो नोत्पद्यते ।

तत्वार्थराजवार्त्तिक अ० ९ सू० ७

* सिंहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे को वि ।
तह मिच्चुणा य गहियं जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥२४॥

स्वामिका०

और मिश्र के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इनमें से राजा, देवता माता, पिता आदि लौकिक जीवशरण हैं। दुर्ग, गुप्त महल मणि आदि लौकिक अजीवशरण हैं। ग्राम-नगर आदि लौकिक मिश्रशरण हैं। पंचपरमेष्ठी लोकोत्तर जीवशरण हैं। पंचपरमेष्ठी प्रति—विम्ब मंत्र आदि लोकोत्तर अजीवशरण हैं। ज्ञान-संयमके साधन उपकरण युक्त साधुवर्ग, अध्यापक युक्त विद्यालय, आदि लोकोत्तर मिश्रशरण हैं। किन्तु जब जीवके जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग अलाभ, दरिद्रता आदि कारणोंसे दुःख उपस्थित होता है, तब कोई भी शरण देनेवाला नहीं होता*। समुद्रमें जहाजके डूब जानेपर उसपर बैठे हुए पक्षी का जैसे कोई भी शरण-सहायी नहीं है, इसी प्रकार विनाशकाल आनेपर हे जीव! तेरा भी कोई शरण सहायी नहीं है। जब तक तेरे कुशलक्षेम है, तभी तक तुझे सभी शरण-सहायी से दिखते हैं‡।

जब जीवका मरण काल आता है तब उसे चारों ओर से घेर कर बड़े बड़े सैनिक शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित होकर क्यों न खड़े हो जायं, अत्यन्त स्नेह करने वाले बन्धुजन भी क्यों न घेरे हुए बैठे रहें, बड़े बड़े डाक्टर वैद्य, हकीम और लुकमान क्यों न अमोघ

*तत्वार्थराजवार्तिक अ० ६ सूत्र ७ वार्तिक २.

‡पयोधौ नष्टनौकस्य पतत्रेरिव जीव ते।
सत्यपाये शरण्यं न तत्स्वास्थ्ये हि सहस्रधा ॥२३॥
क्षत्रचूडामणि लम्ब ११.

औषधियोंसे उसकी रक्षा कर रहे हों, परन्तु यह आत्मा-राम तो सबके देखते-देखते ही उड़ जाता है। लोग समझते हैं कि शास्त्रों में बड़े बड़े मंत्र यंत्रादिक बतलाये गये हैं, वे भी क्या हमारी रक्षा न करेंगे? आचार्य उन्हें उत्तर देते हैं कि हे भव्यात्मन्! मंत्र आदि भी तेरे कोई स्वतंत्र शरण नहीं हैं। ये सब पुण्यके दास हैं, जब तक तेरे पुण्यका उदय बना हुआ है तब तक ही ये शरण से दिखते हैं, पर यथार्थमें ये कोई भी स्वतंत्र शरण नहीं हैं, अन्यथा आज तक अगणित प्राणी अजर-अमर हुए दिखलाई देते*।

ऐसा जान कर हे आत्मन्! संसारमें तू किसी को भी शरण मत समझ और व्यर्थमें परको शरण मान आकुल-व्याकुल मत हो। यथार्थमें तेरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही शरण हैं, सदाकाल रक्षा करनेवाले हैं, इसलिए परम श्रद्धा और भक्तिके साथ उन्हीं की सेवा और आराधना कर ❀। इस प्रकारका चिन्तवन करने से

---

*आयुधीयैरतिस्निग्धैर्बन्धुभिश्चाभिसंवृतः।
जन्तुः संरक्ष्यमाणोऽपि पश्यतामेव नश्यति ॥३४॥
मंत्रयंत्रादयोऽप्यात्मन्स्वतंत्रं शरणं न ते।
किंतु सत्येव पुण्ये हि नो चेत्के नाम तैः स्थिताः ॥३५॥

क्षत्रचू० लं० ११.

❀ दंसणणाण चरित्तं सरणं सेवेहि परम सद्धाए।
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥३०॥

स्वामिका०

जीवके संसारी पदार्थोंमें ममता नष्ट हो जाती है और अर्हत्सर्वज्ञ के बचनोंमें दृढ़ विश्वास जागृत हो जाता है* ।

अब आगे संसार भावना का वर्णन करते हैं:—

चहुं-गति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विध संसार असारा, यामें सुख नाहिं लगारा ॥५॥

अर्थ—यह जीव चारों गतियोंमें भ्रमण करता हुआ दुःख सहन करता है और पांच परिवर्त्तन किया करता है। यह संसार सर्वप्रकारसे असार है, इसमें सुखका लेश भी नहीं है।

विशेषार्थ—जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता हुआ कैसे कैसे दुःख उठाता है, यह पहली ढालमें अच्छी तरह बतला आये हैं। संसारमें भ्रमण करते हुए यह जीव पांच परिवर्तनोंको किया करते हैं। वे पांच परिवर्तन ये हैं:—१द्रव्यपरिवर्तन, २ क्षेत्रपरिवर्तन, ३ कालपरिवर्तन, ४ भवपरिवर्तन और ५ भावपरिवर्तन। इनका स्वरूप संक्षेपसे इस प्रकार जानना चाहिए:—

(१) द्रव्यपरिवर्तन—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके रूप परिणत होने वाले पुद्गल द्रव्यको कर्मद्रव्य कहते हैं और औदारिकादि तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके रूप परिणत होने वाले पुद्गल द्रव्यको नोकर्म द्रव्य कहते हैं। इन दोनों प्रकारके पुद्गलोंका प्रमाण अनन्त है। इनमें से ऐसा एक भी पुद्गल नहीं बचा है

* तत्त्वार्थराज० अ० ६ सू० ७ वा० २।

जिसे इस जीवने क्रमसे भोग-भोग कर अनन्तवार न छोड़ दिया हो, इसीका नाम द्रव्यपरिवर्तन है❤ ।

(२) क्षेत्रपरिवर्तन—इस त्रिलोकव्यापी लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंमें से ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है, जहां यह जीव अनन्तवार न उत्पन्न हुआ हो और अनन्तवार न मरा हो। इसीका नाम क्षेत्र परिवर्तन है‡ ।

(३) कालपरिवर्तन—दश कोड़ाकोड़ी सागरोंका एक उत्सर्पिणी काल होता है और इतने ही समयका एक अवसर्पिणी काल होता है। इन दोनों कालोंके समयमें ऐसा एक भी समय बाकी नहीं बचा है जिनमें यह जीव क्रमसे अनन्तवार न जन्मा-मरा होवे। इस प्रकार कालके आश्रयसे जो परिवर्तन होता है उसे काल परिवर्तन कहते हैं❋ ।

❤ सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण ।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥ २५ ॥
बारस-अणुवेक्खा

‡ सव्वम्मि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं ।
ओगाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥२६॥

❋ उवसप्पिणि अवसप्पिणि समयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मुदोय बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥२७॥
बारस अणुवेक्खा

(४) भवपरिवर्तन—नरक भवकी सबसे जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की है और सबसे उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है। सबसे जघन्य स्थितिके नारकियोंमें उत्पन्न होकर मरा और अन्य-अन्य पर्यायमें उत्पन्न होकर पुनः यह जीव नरकमें एक समय अधिक स्थितिका धारक नारकी हुआ। इस प्रकार एक एक समय अधिक करके तेतीस सागर तक की समस्त स्थितियोंका धारक नारकी हुआ। इसी प्रकार तिर्यंच और मनुष्योंकी सर्व जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी बतलाई है उस स्थितिका धारक मनुष्य और तिर्यंच होकर क्रमशः एक एक समय बढ़ते हुए तीन पल्यकी उत्कृष्ट स्थितिका धारक मनुष्य और तिर्यंच हुआ। देवोंमें इसी प्रकार जघन्य दश हजार वर्षकी स्थितिसे लगाकर उत्कृष्ट मिथ्यादृष्टि देवों की इकतीस सागर की स्थिति तक एक एक समय बढ़ते हुए समस्त स्थितियों का धारक देव हुआ। इस प्रकार चारों गतियोंकी जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तककी समस्त पर्यायोंके धारण करने को एक भव परिवर्तन कहते हैं। इस जीवने इस प्रकारके अनन्त भव परिवर्तन आज तक किये हैं*।

(५) भाव परिवर्तन—प्रकृतिबन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग-बन्ध और प्रदेशबन्ध और, इन चार प्रकारके कर्मबन्धके कारण

* णिरयादि जहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लिया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण हु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदा ॥२८॥
बारस-अणुवेक्खा

भूत जो भाव होते हैं, उन्हें अध्यवसाय स्थान कहते हैं। वे प्रत्येक, असंख्यात लोकोंके जितने प्रदेश हैं, तत्प्रमाण होते हैं। इन समस्त अध्यवसाय स्थानोंके द्वारा मिथ्यात्वी जीवोंके संभव कर्मोंकी जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तकके बन्ध करनेको एक भाव परिवर्तन कहते हैं। इस प्रकारके अनन्त भाव परिवर्तन जीवने आज तक किये हैं❤।

यह जीव इन पाँचों ही परिवर्तनों को सदा काल करता हुआ संसारमें परिभ्रमण करता रहता है और नाना प्रकारके दुःख उठाया करता है। इस प्रकार संसारका विचार करना सो संसार-भावना है। इसके भावनेसे जीवको संसारसे वैराग्य हो जाता है, जिससे कि वह संसारसे छूटनेके लिये प्रयत्न करता है।

अब आगे एकत्व भावनाका वर्णन करते हैं:—

शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एकहि तेते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथके हैं भीरी॥ ६॥

अर्थ—शुभ और अशुभ कर्मका जितना भी फल प्राप्त होता है, उसे यह जीव अकेले ही भोगता है पुत्र आदि कोई भी भागी-नहीं होता, ये सब स्वार्थके ही साथी हैं।

विशेषार्थ—यह जीव अकेला ही गर्भमें आता है और अकेला

❤ सव्वा पयडि ट्ठिदिओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदापुण भावसंसारे॥२९॥
बारस-अणुवेक्खा

ही जन्म लेता है, अकेला ही बाल और युवा रहता है और अकेलाही जरासे जर्जरित वृद्ध होता है। अकेला ही रोगी शोकी होता है और अकेला ही यह मानसिक दुःखोंसे संतप्त रहता है। यह अकेला ही मरता है और अकेला ही नरक, तिर्यंच आदिकी महान वेदनाओंको सहता है❤। बीमारी आदिके होने पर स्वजन, कुटुम्बी आदि आंखोंसे दुःखोंको देखते हुए भी लेशमात्र भी दुःखोंको बाँट नहीं सकते, ऐसा जानते देखते हुए भी आश्चर्य है कि जीव संसारके कुटुम्ब आदिसे ममताको नहीं छोड़ता है*। और यह मेरा, यह मेरा करता हुआ रात दिन कुटुम्बके निमित्त पापका संचय किया करता है। पर जिन बन्धुजनों के लिए यह इतना पापउपार्जन करता है, वे अधिकसे अधिक श्मशान तक साथ देते हैं और जिस धनके पीछे रात-दिन एक किया करता था, वह घरमें ही पड़ा रहता है दो पग भी साथ नहीं चलता। देह यहीं भस्म होजाती है। हे आत्मन! एक धर्म ही ऐसा है,

---

❤ इक्को जीवो जायदि इक्को गब्भम्मि गिएहदे देहं।
इक्को बाल जुवाणो इक्को बुड्ढो जरागहिओ ॥७४॥
इक्को रोई सोई इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे।
इक्को मरदि वराओ णरयदुहं सहदि इक्को वि ॥७५॥
स्वामिका०

* सुयणो पिच्छंतो विहु ण दुक्खलेसं पि सक्कदे गहिदुं।
एवं जाणंतो वि हु तो वि ममत्तं ण छंडेइ ॥७७॥
स्वामि का०

जो तेरा कभी साथ नहीं छोड़ता* । वह परभवमें भी साथ जाता है और अन्तमें संसारके दुःखोंसे भी छुड़ा देता है, अतएव तू उसीकी शरणमें जा❥ । ऐसा विचार करनेसे न तो स्वजनोंमें मोह उत्पन्न होता है और न परजनोंमें द्वेष भाव जागृत होता हैं, किन्तु निःसंगता या एकाकीपना प्रगट होता है, जिससे कि यह आत्मकल्याणके ही लिये प्रयत्न करता है❀ । ऐसा बार बार चिन्तवन करना सो एकत्वभावना है ।

अब आगे अन्यत्व भावनाका वर्णन करते हैं:—

जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न भिन्न नहिं मेला ।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिल सुत रामा ॥७

अर्थ—जैसे जल और दूध मिलकर एकसे दिखने लगते हैं, पर यथार्थमें एक नहीं होते, इसी प्रकार मिले हुए यह जीव और देह भी यथार्थमें भिन्न भिन्न ही हैं, एक नहीं हैं । जब मिले हुये देह और जीव भी एक नहीं हैं, तब प्रत्यक्ष ही भिन्न दिखाई

---

* बन्धवो हि श्मशानान्ता गृह एवार्जितं धनम् ।
भस्मने गात्रमेकं त्वां धर्म एव न मुंचति ॥४३॥
क्षत्र० स० ११

❥ जीवस्स णिच्चयादो धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो ।
सो णेइ देवलोए सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ ॥७८॥
स्वामि०

❀ सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र ७ ।

देने वाले ये धन, धाम, पुत्र स्त्री आदि कैसे एक हो सकते हैं ? कदापि नहीं ।

विशेषार्थ—सदा साथ रहने वाले शरीरसे भी आत्मा भिन्न है, ऐसा विचार करना सो अन्यत्व भावना है, क्योंकि शरीर ऐन्द्रियिक है, आत्मा अतीन्द्रिय है, शरीर जड़ है, आत्मा ज्ञाता दृष्टा है; शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है; शरीर अपवित्र है आत्मा पवित्र है। कर्मोंसे और शरीरसे आत्मा उसी प्रकार भिन्न है, जैसे म्यानसे तलवार भिन्न होती है*। ऐसा जानकर हे आत्मन्! शरीरसे ममता छोड़, उसे अपना मत जान । किन्तु जो ज्ञाता दृष्टा आत्मा है उसे ही 'स्व' समझकर उसकी प्राप्तिका प्रयत्न कर। इस प्रकारके वार वार चिन्तवन करनेको अन्यत्व भावना कहते हैं। इस भावनासे शरीर आदिमें निःस्पृहता पैदा होती है, उससे तत्त्वज्ञान जागृत होता है और फिर यह आत्मा मोक्ष की प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है‡ ।

अब अशुचि भावनाका वर्णन करते हैं :—

---

* देहात्मकोऽहमित्यात्मञ्जातु चेतसि मा कृथाः ।
कर्मतो हि पृथक्त्वं ते त्वं निचोलासि सन्निभः ॥४७॥
अध्रुवत्वादमेध्यत्वादचित्त्वाचान्यदङ्गकम् ।
चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वैरात्मन्नन्योऽसि कायतः ॥४८॥
क्षत्र चू० लं० ११

‡ सर्वार्थसिद्धि० अ० ६, सूत्र ७ ।

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली ।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किमि यारी ।।८।।

अर्थ—यह देह रक्त, मांस, पीप, विष्टा, मूत्र आदिकी थैली है और हड्डी, चर्बी आदिसे बनी होनेके कारण अपवित्र है। इस देहके दो कानोंके छेद, दो आंख, दो नाकके छेद, एक मुँह, एक मूत्रद्वार और एक विष्टाद्वार, इन नौ द्वारोंसे सदा घिनावनी वस्तुएं बहा करती हैं, फिर हे आत्मन् ! ऐसे अपवित्र देहसे क्यों प्रीति करता है ?

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! यह शरीर समस्त निन्द्य और घृणित वस्तुओंका पिंड है, नाना प्रकारके कृमि-कुलसे भरा है, अत्यन्त दुर्गन्धित है, मल-मूत्रका भंडार है और अत्यन्त अपवित्र है❤ ।

इस शरीरके सम्पर्कसे अत्यन्त पवित्र, सरस, सुगंधित, और मनोहर भी पदार्थ अति अपवित्र और घिनावने हो जाते हैं❀ । इस प्रकारके देहको देखते हुए भी आश्चर्य है कि तू उसीमें अनुरक्त हो रहा है और अलब्धपूर्वके समान उसे अत्यन्त

❤ सकल कुहियाण पिंडं किमिकुलकलियं अउव्व दुग्गंधं ।
मलमुत्ताणं गेहं देहं जाणेह असुमइमयं ।।८३।।
स्वामिका०

❀ सुट्ठु पवित्तं दव्वं सरस सुगंधं मणोहरं जं पि ।
देहणिहित्तं जायदि घिणावणं सुट्ठु दुग्गंधं ।।८४।।
स्वामि०

आसक्तिसे सेवन कर रहा है‡ ? हे आत्मन् ! इस शरीरके भीतरी स्वरूपका विचार तो कर, इसके भीतर मल, मांस आदि घृणित और अपवित्र वस्तुओंके सिवा और क्या भरा है। जो देह इस चमड़ीसे ढके रहनेके कारण ऊपरसे बड़ा सुन्दर रमणीक दिखती है, दैववशात् यदि उसके भीतर की कोई वस्तु बाहर आजाय तो उसके अनुभव की बात तो दूर है, उसे कोई देखना भी नहीं चाहता* । इसलिए इस मांसके पिंडको अपवित्र और विनश्वर समझकर उसमें अनुराग मत कर, किन्तु इससे जो एक महान् लाभ यह हो सकता है, उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न कर। वह महान् लाभ यह है कि अक्षय, अव्याबाध सुखकी प्राप्तिके साधन-भूत सम्यक् चारित्र की साधना इसी शरीरसे ही संभव है, अतः तपश्चरणादि करके इस असार शरीरसे भी सम्यक् चारित्ररूपी सारको खींच ले। फिर रस-हीन हुए इक्षुदंडके

---

‡ एवं विहं पि देहं पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं।
सेवंति आयरेण य अलद्धपुव्वं त्ति मण्णंता ॥८६॥

स्वामि०

* अस्पष्टं दृष्टभंगं हि सामर्थ्यात् कर्मशिल्पिनः।
रम्यमूहे किमन्यत्स्यान्मलमांसास्थिमज्जतः ॥५१॥
दैवादन्तः स्वरूपं चेद्बहिर्देहस्य किं परैः।
आस्तामनुभवेच्छेयमात्मन् को नाम पश्यति ॥५२॥

क्षत्र चू० ११

समान इस शरीरके विनाश होने पर भी कोई खेद नहीं रहेगा❀। इस प्रकारके चिन्तवन करनेको अशुचिभावना कहते हैं। इसके वार वार चिन्तवन करनेसे शरीरसे निर्वेद होता है जिससे यह जीव संसार-समुद्रसे पार होनेका प्रयत्न करता है■।

अब आस्रव भावनाका स्वरूप कहते हैं—

जो योगन की चपलाई, तातैं ह्वै आस्रव भाई।
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवंत तिन्हें निरवेरे ॥६॥

अर्थ—हे भाई! मन, वचन और काय इन तीनों योगोंमें जो चंचलता होती है, उसीसे कर्मोंका आस्रव होता है। यह आस्रव अत्यन्त दुःख देने वाला है, इसलिए बुद्धिमान् लोग उसे रोकनेका प्रयत्न करते हैं।

विषशेषार्थ—यद्यपि योगोंकी चंचलतासे कर्मोंका आस्रव होता है, तथापि उनमें स्थितिबंध और अनुभागबंध नहीं पड़ता, है अतएव वह आस्रव जीवको दुखदायी भी नहीं है। किन्तु कषायोंसे युक्त योगोंके निमित्तसे जो कर्मोंका आस्रव होता है, वह अत्यन्त

❀ एवं पिशितपिण्डस्य क्षयिणोऽक्षयशंकृतः।
गात्रस्यात्मन्क्षयात्पूर्वं तत्फलं प्राप्य तत्त्यज ॥५३॥
आत्तसारं वपुः कुर्यास्तथात्मंस्तत्क्षयेऽप्यभीः।
आत्तसारेक्षुदाहेऽपि न हि शोचन्ति मानवाः ॥५४॥
क्षत्र चू० लं० ११

■ सर्वार्थसिद्धि अ० ६ सू० ७।

दुर्मोच होता है, उसका छूटना बहुत कठिन होता है। इस दुर्मोच कर्म पुद्गलोंसे निरन्तर भरा जाता हुआ यह जीव नीचे नीचे चला जाता है। जैसे कि जलसे भरी जाती हुई नाव नीचेको चली जाती है✽।

हे आत्मन्! इस कर्मास्रव का कारण तेरा अनादि-कालीन कषाय-युक्त योग भाव है अतएव उसे दूर करनेका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए*। आस्रव और बन्धके कारण तीसरी ढाल में बता आये हैं, उससे बचने का प्रयत्न करना ही आस्रव भावनाका उद्देश्य है। इस भावनाके चिन्तवन करने से मिथ्यात्व कषाय, अविरति आदिमें हेय-बुद्धि और सम्यक्त्व, चारित्र आदि में उपादेय बुद्धि जागृत होती है।

अब संवर भावनाका वर्णन करते हैं:—

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥१०॥

✽ अजस्रमास्रवन्त्यात्मन् दुर्मोचाः कर्मपुद्गलाः।
तैः पूर्णस्त्वमधोधः स्या जलपूर्णो यथा प्लवः॥५५॥
क्षत्र चू० लं० ११

* तन्निदानं तवैवात्मन् योगभावौ सदातनौ।
तौ विद्धि उपरिस्पन्दं परिणामं शुभाशुभम्॥५६॥
आस्रवोऽयममुष्येति ज्ञात्वात्मन् कर्मकारणे।
तत्तन्निमित्तवैधुर्यादपबाह्योर्ध्वगो भव॥५७॥
क्षत्रचू० लं० ११

अर्थ—जिन बुद्धिमान् पुरुषोंने पुण्य और पापरूप कार्योंको नहीं किया, किन्तु अपने आत्माके अनुभवमें चित्तको लगाया है, उन्हीं महापुरुषोंने आते हुए कर्मोंको रोका और संवरको प्राप्त कर अक्षयानन्त आत्मसुखको प्राप्त किया है।

विशेषार्थ—शास्त्रकारोंने पापको लोहेकी बेड़ी और पुण्यको सोनेकी बेड़ी कहा है, क्योंकि, दोनोंके ही द्वारा बंधे हुए मनुष्य परतंत्रताके दुःखका अनुभव करते हैं। इसीलिए ज्ञानी पुरुष पुण्यास्रव और पापास्रवको छोड़कर आत्मानुभवका प्रयत्न करते हैं। कर्मोंके आगमनको रोकनेके लिए तीन गुप्ति, पांच समिति, दशधर्म बारह भावना, बाईस परीषहजय और पांच प्रकारके चारित्रको धारण करनेकी आवश्यकता है। मन, वचन, कायकी चंचलता को रोकना सो गुप्ति है, गमनागमन आदिमें प्रमादको दूर करना सो समिति है। दयामयी उत्तमक्षमादिको धारण करना सो धर्म है। संसार, देहादिका चिन्तवन करना सो अनुप्रेक्षा है भूख, प्यास आदिकी बाधा को उपशम भावसे जीतना सो परीषह जय है*।

---

* गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा तह परीसहजओवि।
उक्किट्ठं चारित्तं संवरहेदू विसेसेण ॥९६॥
गुत्ती जोगणिरोहो समिदी य पमायवज्जणं चेव।
धम्मो दयापहाणो सुत्तच्चिंता अणुप्पेहा ॥९७॥
सो वि परीसहविजओ छुहाइपीडाण अइरउद्दाणं।
सवणाणं च मुणीणं उवसमभावेण जं सहणं ॥९८॥
स्वामिका०

राग-द्वेष छोड़कर सद्ध्यानमें तल्लीन होना और आत्मस्वरूपका चिन्तवन करना सो चारित्र कहलाता है। ये सब संवरके कारण हैं। उन्हें धारण कर हे आत्मन्, तू आते हुए कर्मोंको रोक जिससे कि संसार रूपी समुद्रमें तेरा आत्मारूपी यह जहाज छिद्ररहित होकर निरुपद्रव हो जाय। तू गुप्ति आदिका धारण करना कठिन मत समझ, उनका पालना अत्यन्त सरल है। देख पहले विकथाओंके कहने सुननेसे अपने आपको बचा, फिर पर-पदार्थोंसे ममताका नाता तोड़ और अपने स्वरूपकी भावना कर, गुप्ति आदि तो तेरे हाथमें स्वयं आजायगी♥। इस प्रकार बिना किसी क्लेशके प्राप्त होने वाले मोक्ष मार्गमें अपनी बुद्धिको लगा, बाहरी संताप बढ़ाने वाली वस्तुओं में क्यों मोहित हो रहा है*। ऐसा जानकर जो बुद्धिमान् विषयोंसे विरक्त होकर कछुएके

♥ संरक्ष्य समितिं गुप्तिमनुप्रेक्षापरायणः।
तपः संयमधर्मात्मा त्वं स्या जित परीषहः॥५८॥
एवं च त्वयि सत्यात्मन् कर्मास्रवनिरोधनात्।
नीरन्ध्रपोतवद्भूया निरपायो भवाम्बुधौ॥५९॥
विकथादि-वियुक्तस्त्वमात्मभावनयान्वितः।
त्यक्तबाह्यस्पृहो भूया गुप्त्याद्यास्ते करस्थिताः॥६०॥
क्षत्र० लं० ११

* एवमक्लेशगम्येऽस्मिन्नात्माधीनतया सदा।
श्रेयोमार्गे मतिं कुर्याः किं बाह्ये तापकारिणि॥६१॥
क्षत्र० लं० ११

समान अपने आपको सदा संवृत रखते हैं उनके ही संवर होता है। ऐसा वार वार चिन्तवन करना सो संवर भावना है। इस भावनाके चिन्तवन करने से आत्मा कर्मोंके आस्रवसे बचने का प्रयत्न करता है और मोक्षमार्गमें लगता है❀।

अब निर्जरा भावनाका स्वरूप कहते हैं:—

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरशावै ॥११॥

अर्थ—अपनी स्थिति को पूरा करके जो कर्म झरते हैं, उनसे आत्माका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। किन्तु तपके द्वारा जो कर्मोंकी निर्जरा की जाती है, वही मोक्ष-सुखको प्राप्त कराती है।

विशेषार्थ—संचित कर्मोंके झड़नेको निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा दो प्रकारकी होती है सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। जिस कर्मकी जितनी स्थिति पूर्वमें बंधी थी, उसके पूरा होने पर उस कर्मके फल देकर झड़नेको सविपाक निर्जरा कहते हैं यह सर्व-संसारी जीवोंके होती है*, इससे आत्माका कोई लाभ

❀ जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदा वि संवरई।
मणहरविसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होइ ॥१०१॥
स्वामिका०

* बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तं।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे ॥६६॥
सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥६७॥
बारस-अणुवेक्खा

नहीं है, क्योंकि, इस निर्जराके द्वारा जीव जिन कर्मों की निजरा करता है उससे कई गुणित अधिक नवीन कर्मोंका बन्ध कर लेता हैं, इसलिए इस निर्जराको व्यर्थ बतलाया गया है तपश्चरणके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेके पूर्व ही जो कर्मोंकी निर्जरा की जाती है, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं । यह निर्जरा व्रती, तपस्वी साधुओं के होती है और यही आत्माके लिए लाभदायक है, यही मोक्ष प्राप्त कराने वाली है। निर्जराका प्रधान कारण तप है। वह तप बारह प्रकारका बतलाया गया है। वैराग्य भावनासे युक्त निदान एवं अहंकार रहित ज्ञानी पुरुषोंके ही तपसे निर्जरा होती है❀। आत्मामें ज्यों ज्यों उपशम भाव और तपकी वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों निर्जराकी भी वृद्धि होती जाती है*। जो दुर्जनोंके दुर्वचनों को, मारन, ताड़न और अनादरको अपना पूर्वोपार्जित कर्मका उदय जानकर शान्तचित्तसे सहन करते हैं उनके निर्जरा विपुल परिमाणमें होती है♥। जो तीव्र परीषह और उग्र

❀ बारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥१०२॥

* उवसमभावतवाणं जह जह वड्ढी हवेइ साहूणं ।
तह तह णिज्जरवड्ढी विसेसदो धम्मसुक्कादो ॥१०५॥

♥ जो वि सहदि दुव्वयणं साहम्मिय हीलणं च उवसग्गं ।
जिणऊण कसायरिउं तस्स हवे णिज्जरा विउला ॥१०६॥

उपसर्गोंको कर्मरूप शत्रुका ऋण समझकर शांतिसे सहन करते हैं, उनके भारी निर्जरा होती है❀।

जो पुरुष इस शरीरको ममताका उत्पन्न करने वाला, विनश्वर और अपवित्र समझकर उसमें रागभाव नहीं करता है किन्तु अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्रको सुख-जनक, निर्मल और नित्य समझता है, उसके कर्मोंकी महान् निर्जरा होती है♥। जो अपने आपकी तो निन्दा करता है और गुणी जनोंकी प्रशंसा करता है, अपने मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है और आत्म-स्वरूपके चिन्तवनमें लगा रहता है उसके कर्मोंकी भारी निर्जरा होती है*। जो शम भावमें तल्लीन होकर आत्मस्वरूपका निरन्तर ध्यान करते हैं, तथा इन्द्रियों और कषायों को जीतते हैं, उनके कर्मोंकी परम उत्कृष्ट निर्जरा होती है▪, ऐसा जानकर सदा

❀ रिणमोयणुव्व मण्णइ जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं ।
पावफलं मे एदे मया वि यं संचिदं पुव्वं ॥११०॥
स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा

♥ जो चिंतेइ सरीरं ममत्तजणयं विणस्सरं असुइं ।
दंसणणाणचरित्तं सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं ॥१११॥

* अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेदि बहुमाणं ।
मण-इंदियाण विजई स सरूवपरायणो होदि ॥११२॥

▪ जो समसुक्खणिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं ।
इंदियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥११४॥
स्वामिका०

तपश्चरणको करते हुए आत्म-निरत होना चाहिए। ऐसा विचार करना सो निर्जरा भावना है।

अब लोक भावनाका स्वरूप कहते हैं:—

किन हू न करौ न धरै को, षट्द्रव्यमयी न हरे को।
सो लोक मांहि बिन समता, दुख सहे जीव नित भ्रमता १२

अर्थ—छह द्रव्योंसे भरे हुए इस लोकको न किसीने बनायाहै, न कोई इसे धारण किए हुए है और न कोई इसका नाश ही कर सकता है। ऐसे इस लोकके भीतर समता भावके बिना यह जीव निरन्तर भ्रमण करता हुआ दुःख सहा करता है।

विशेषार्थ—अन्य मतावलम्बी मानते हैं कि ब्रह्माने इस लोकको बनाया है, विष्णु इसे धारण किए हुए हैं और महेश इसका संहार करते हैं। छह ढालाकार इन सबका खण्डन करते हुए कहते हैं कि न तो किसीने इस लोक को बनाया है, न कोई धारण किए हुए है और न कोई इसका नाश ही कर सकता है। किन्तु यह लोक अनंतानंत आकाशके ठीक मध्य भागमें छह द्रव्यों से ठसाठस भरा हुआ पुरुषाकार संस्थित है और इसे चारों ओरसे घनोदधिवात, घनवात और तनुवात ये तीन प्रकारके वातवलय घेरे हुए हैं जिनके आधार पर यह लोक स्थिर है*। इस लोकका

---

* सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झिमसंठियो लोओ।
सो केण वि णेव कओ, ण य धरिओ हरिहरादीहिं ॥११५॥
स्वामिका०

आकार दोनों पैर फैलाए और कटि भाग पर दोनोंहाथ रखे हुए पुरुषके समान है। इसके तीन भाग हैं ♥, अधोभागको पाताललोक कहते हैं जहाँ नारकी आदि रहते हैं। मध्य भागको तिर्यक् लोक या मध्यलोक कहते हैं, जिसमें असंख्यात द्वीप समुद्रोंकी अनादि-निधन रचना है, इसी भागमें मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं। इससे ऊपरके भागको ऊर्ध्वलोक कहते हैं, जहाँ स्वर्ग पटल हैं और देव, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि निवास करते हैं। सबसे ऊपर सिद्धलोक है। जहाँ अनन्त सिद्ध विराजमान हैं*। इस प्रकारके लोकमें अनादिसे यह जीव यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण जन्म-मरण करता हुआ चक्कर लगाता है। इसमें एक प्रदेश भी बाकी नहीं बचा है, जहाँ पर इस जीवने अनन्त बार जन्म और मरण न किया हो❀। पाप करनेसे यह नरक-तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुआ। पुण्य करनेसे मनुष्य और देवोंमें पैदा हुआ परन्तु मोक्ष

♥ प्रसारितांघ्रिणा लोकः कटिनिक्षिप्तपाणिना।
तुल्यः पुंसोर्ध्वमध्याधोविभागस्त्रिमरुद्वृतः ॥७०॥
क्षत्र० लं० ११

* णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयोसंखा।
सग्गो तिसट्ठिभेयो एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥४०॥
बारस-अणुवेक्खा।

❀ जन्ममृत्योः पदे ह्यात्मन्नसंख्यातप्रदेशके।
लोके नायं प्रदेशोऽस्ति यस्मिन्नाभूरनन्तशः ॥७१॥
क्षत्र चू० लं० ११

जानेके उपायभूत शुद्ध उपयोगको इसने आज तक प्राप्त नहीं किया, जिसके कारण आज भी संसारमें परिभ्रमण कर रहा है*। इस प्रकार लोकका स्वरूप चिन्तवन करना सो लोक भावना है। इसके बार बार चिन्तवन करनेसे जीवके तत्व- ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उससे फिर यह मोक्षको पानेका प्रयत्न करता है।

अब बोधि दुर्लभ भावनाका स्वरूप कहते हैं:—

अन्तिम-ग्रीवकलौंकी हद, पायौ अनन्त बिरियां पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ ॥१३॥

अर्थ—इस जीवने नौंवे ग्रैवेयककी हद (सीमा) तकके इन्द्र, अहमिन्द्र आदि पदोंको अनन्त बार पाया है, पर सम्यग्ज्ञानको नहीं प्राप्त कर पाया जिसके कारण वह आजभी संसारमें परिभ्रमण कर रहा है ऐसे अत्यन्त दुर्लभ सम्यग्ज्ञानको सच्चे साधु ही अपने आपमें सिद्ध करते हैं।

विशेषार्थ—यथार्थज्ञानको बोधि कहते हैं। रत्नत्रय स्वभावकी प्राप्ति, ज्ञान और अनुष्ठान को भी बोधि कहा है। इसकी

---

* असुहेण निरयतिरियं सुह उवजोगेण दिविज-णर सोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥४२॥
बारस-अणुवेक्खा

दुर्लभताका चिन्तवन करना सो बोधि-दुर्लभ भावना है❀ । आचार्य कुन्दकुन्द ने बारस-अणुवेक्खामें कहा है कि जिस उपायसे सद्-ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपायकी चिन्ताको बोधि कहते हैं★ । यह बोधि अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि अनादि कालसे लेकर आज तक यह जीव बहुभाग अनन्त काल तो निगोद में ही रहा है फिर वहांसे निकलकर पृथ्वी कायिक आदि एकेन्द्रिय जीवोंकी अन्य पर्यायों को प्राप्त होता है, उनके भी बादर सूक्ष्म आदि अनेक भेद हैं सो उनमें ही असंख्यात काल तक परिभ्रमण करता है । एकेन्द्रियोंमें से निकलकर त्रस पर्याय पानेको चिन्तामणि रत्नके पानेके समान कठिन बतलाया गया है, अथवा बालूके समुद्रमें गिरी हुई हीराकी कणीका मिलना जैसा कठिन है, वैसाही कठिन त्रसपर्याय पाना है । इस त्रसपर्यायमें विकलेन्द्रिय जीवोंकी अत्यन्त अधिकता है, सो उनमें अनेकों पूर्व कोटि वर्षों तक भ्रमण करता रहता है । उनमेंसे निकलकर पंचेन्द्रिय की पर्याय पाना ऐसा कठिन है, जैसाकि अनेक गुण पाने पर भी कृतज्ञता गुणका पाना । किसी प्रकार

❀ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां ज्ञप्तिरनुष्ठानं च बोधिः । तत्वार्थ-वृत्तिः, अ० ९ सू० ७ । रत्नत्रयस्वभावादिलाभस्य कृच्छ्रात्प्रतिपत्तिः बोधि-दुर्लभत्वं ॥ राजवार्त्तिक अ० ९ सूत्र ७ ।

★ उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स ।
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥७३॥

बारस अणुवेक्खा

पंचेन्द्रिय हो भी गया, तो उसमें भी सैनी होना अत्यन्त कठिन है। सैनी होकरके भी मनुष्य भवका पाना इस प्रकार कठिन है जिस प्रकार कि किसी चौराहे पर रत्नराशिकाका पाना* । ऐसा दुर्लभ मनुष्य भव पाकरके भी जीव मिथ्यात्वके वशीभूत होकर महान् पापोंका उपार्जन किया करता है। इस मनुष्यभव में भी आर्यपना, उत्तम कुल गोत्रादिककी प्राप्ति, धनादि सम्पत्ति, इन्द्रियोंकी परिपूर्णता, शरीरमें नीरोगपना, दीर्घ-आयुष्कता, शीलपना आदिका मिलना उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ है । यदि किसी प्रकार उपर्युक्त सब वस्तुएं प्राप्त भी हो गईं, तो सद्धर्म की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है, यदि वह न प्राप्त हुआ तो समस्त वस्तुओंका पाना व्यर्थ है, जैसे सर्व अंग अत्यन्त सुन्दर पाकर भी नेत्र-हीनताके होनेसे मनुष्य जन्म व्यर्थ है। इसलिए हे भव्य जीवो ! ऐसे कठिन नर-भवको पाकर सम्यक्त्व, ज्ञान

---

* रयणं चउप्पहे मिव मणुअत्तं सुट्ठ दुल्लहं लहिय ।
मिच्छो हवेइ जीवो तत्थ वि पावं समज्जेदि ॥२९०॥
अह लहइ अज्जवंतं तह विण पावेइ उत्तमं गोत्तं ।
उत्तमकुले वि पत्ते धणहीणो जायदे जीवो ॥२९१॥
अह धणसहिओ होदि हु इंदियपरिपुण्णदा सदो दुलहा ।
अह इंदियसंपुण्णो तह वि सरोओ हवे देहो ॥२९२॥
अह णीरोओ होदि हु सह वि ण पावेइ जीवियं सुइरं ।
अह चिरकालं जीवदि तो सीलं णेव पावेइ ॥२९३॥
स्वामिका०

और चारित्रको धारण करो❀। मनुष्य गतिसें ही चारित्र, तप ध्यान आदिका होना संभव है और इसीसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो ऐसे उत्तम नर-भव को पाकर इन्द्रिय-विषयोंमें रमण करते हैं, वे भस्म (राख) के लिए दिव्य रत्नको जलाते हैं, उन जैसा कोई मूर्ख और अज्ञानी नहीं है★।

ऐसा जानकर हे आत्मन्! कर्मोदयसे उत्पन्न हुई समस्त पर्यायोंको, समस्त संयोगों और सम्बन्धोंको 'पर' जानकर छोड़ और अपना आत्मा ही 'स्व-द्रव्य' है, वही उपादेय है ऐसा दृढ़ निश्चय कर। यही सद्-ज्ञान है और यही बोधि है♥। ऐसा वार-वार चिन्तवन करना सो बोधि-दुर्लभ भावना है, इस भावनाके निरन्तर भानेसे रत्नत्रय की प्राप्ति होती है और आत्मा सदा सावधान और जागरूप रहता है।

अब धर्मभावना का वर्णन करते हैं :—

❀ सर्वार्थ सिद्धि अ० ८ सू० ७

★ मणुअगईए वितओ मणुअगईए महव्वयं सयलं।
मणुअगईए झाणं मणुअगईए विणिव्वाणं ॥२९९॥
इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे रमंति विसएसु।
ते लहिय दिव्वरयणं भूइणिमित्तं पजालंति ॥३००॥
स्वामिका०

♥ कम्मुदयजपज्जाया हेयं खा ओवसमियणाणं खु।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छिदि होदि सण्णाणं ॥८४॥
बारस-अणुवेक्खा

जो भाव मोहतें न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे ।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै ॥१४

अर्थ—दर्शनमोहसे रहित जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, व्रत, तप आदि हैं, वे ही सच्चे धम हैं। उस धर्मको जब जीव धारण करता है, तभी वह अविचल और अव्याबाध सुखको प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—आचार्योंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप रत्नत्रयको धर्म कहा है। इस धर्मका वर्णन ग्रन्थकार क्रमशः स्वयं तीसरी ढालसे करते हुए चले आरहे हैं। सम्यक्चारित्रके एकदेश धारक श्रावकोंके धर्मका वर्णन चौथी ढालमें किया जा चुका है और सकल चारित्रके धारक मुनियोंके धर्मका वर्णन आगे छठी ढालमें किया जायगा। इस धर्मकी प्राप्ति निकट भव्यके अत्यन्त भाग्योदयसे होती है। यह धर्म उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयय, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य स्वरूप है, अहिंसा और अपरिग्रहता ही इसके प्रधान लक्षण हैं। इसी धर्मके प्राप्त न होनेके कारण जीव अनादिसे इस संसारमें अपने दुष्कर्मोंका फल भोगते हुए परिभ्रमण कर रहे हैं। जीव जैसा प्रेम पुत्र, स्त्रीमें, इन्द्रियोंके भोगोंमें और धन-सम्पत्तिमें करता है, वैसा स्नेह यदि वह जिनेन्द्रदेवप्रतिपादित धर्ममें करता, तो लीलामात्रमें सच्चे सुखको प्राप्त कर लेता। किन्तु यह महान दुःखकी बात है कि मनुष्य सांसा-

रिक सम्पत्तिको चाहता है, पर सच्चे धर्ममें आदर नहीं करता❀। जिस धर्मके प्रसादसे अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है, उससे सांसारिक-सम्पदाओं का मिलना कौनसा कठिन कार्य है ? ऐसा जान कर विवेकी पुरुषोंको सदा जिन धर्मकी आराधना करना चाहिए। इस सत्य धर्मके प्रभावसे एक तिर्यंच भी मर कर उत्तम देव हो जाता है, चांडाल भी देवेन्द्र बन जाता है। इस धर्मके प्रसादसे अग्नि शीतल हो जाती है। सर्प सुवर्णमाल बन जाता है और देवता भी किंकर बन कर सदा सेवा करनेको तैयार रहते हैं❤। तीक्ष्ण तलवार भी पुष्पोंका हार बन जाती है, दुर्जय शत्रु भी अत्यन्त हितैषी मित्र बन जाते हैं, हलाहल विष भी अमृत बन जाता है, तथा महान विपत्ति भी सम्पत्तिरूप परिणत हो जाती है* किन्तु धर्मसे

❀ जह जीवो कुणइ रइं पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे तो लीलाए सुहं लहदि ॥ ४२४ ॥
लच्छिं वंछेइ णरो णेव सुधम्मेसु आयरं कुणइ ॥४२५ ॥

❤ उत्तमधम्मेण जुदो होदि तिरिक्खो वि उत्तमो देवो।
चंडालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि ॥४३०॥
अग्गी वि य होदि हिमं होदि भुयंगो वि उत्तमं रयणं।
जीवस्स सुधम्मादो देवाविय किंकरा होंति ॥ ४३१ ॥

* तिक्खं खग्गं माला दुज्जयरिउणो सुहंकरा सुयणा।
हालाहलं पि अमियं महापया संपया होदि ॥ ४३२ ॥

रहित देव भी मर कर मिथ्यात्वके वशसे एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होता है और धर्मसे रहित चक्रवर्ती भी महा आपदाके घर नरकमें पड़ता है। धर्मसे विहीन मनुष्य इष्ट भोगादिकके पानेके लिए बड़े साहसके काम करता है परन्तु नाना अनिष्टोंको ही प्राप्त होता है। इस प्रकार धर्म और अधर्मका प्रत्यक्ष फल देखकर हे भव्य जीवो! धर्मका दूरसे ही परिहार करो और धर्मका सदा आचरण वा आराधन करो"। ऐसा विचार करना सो धर्म भावना है।

इन बारह भावनाओंका सदा चिन्तवन करनेसे मनुष्यका चित्त संसार, देह और भोगोंसे विरक्त हो जाता है, पर-पदार्थोंमें अनुराग नहीं रहता और आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए वह तत्पर हो जाता है। श्री कुन्द-कुन्दाचार्य कहते हैं कि अनादिकालसे आज तक जितने भी जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमानमें हो रहे हैं और आगे होंगे, वे सब इन बारह भावनाओंके चिन्तवन कर ही

❤ देवो विधम्मचत्तो मिच्छित्तवसेण तरुवरो होदि।
चक्की वि धम्मरहियो णिवडइ णरए न सम्पदे होदि ॥४३३॥
धम्मविहीणो जीवो कुणइ असज्झं पि साहसं जइ वि।
तो ण वि पावदि इट्ठं सुट्ठु अणिट्ठं परं लहदि ॥४३५॥
इय पच्चक्खं पिच्छिय धम्म।धम्माण विविहमाहप्पं।
धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरह ॥४३६॥
स्वामिका०

निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। अतएव यह भावनाओंका ही माहात्म्य जानना चाहिये*।

अब ग्रन्थकार इस ढालको पूर्ण करते हुए आगे छठी ढालमें वर्णन किए जाने वाले विषयकी भूमिका-स्वरूप पद्यको कहते हैं:—

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूत उचरिये।
ताकों सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥१५॥

अर्थ—सकलचारित्र-रूप पूर्ण-धर्मको मुनिगण ही धारण करते हैं, इसलिए आगे की ढाल में उन मुनियोंकी कर्तव्यभूत क्रियाओंका वर्णन किया जाता है। हे भव्य प्राणियो! उन क्रिया-ओंके उपदेशको सुनो, जिससे कि अपने आत्माकी अनुभूति हो सके।

इस प्रकार मुनिधर्मके लिए साधक-स्वरूप बारह भावना-ओंका वर्णन करने वाली पाँचवीं ढाल समाप्त हुई।

पांचवीं ढाल समाप्त

---

* मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बार अणुवेक्खं।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥८९॥
किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तज्जाणइ तस्स माहप्पं ॥९०॥
बारस-अणुवेक्खा।

छठी ढाल

अब ग्रन्थकार सकल चारित्रका वर्णन करते हुए सर्व प्रथम पांच महाव्रतोंका वर्णन करते हैं :—

षटकाय जीव न हननतें सब विध दरव हिंसा टरी,
रागादि भाव निवारतें हिंसा न भावित अवतरी।
जिनके न लेश मृषा न जल मृण तू विना दीयो गहैं,
अठदश सहस विध शील धर चिद्ब्रह्म में नित रमि रहैं ॥१

अर्थ—मुनिराज पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये पांच स्थावर काय और त्रसकाय इन षट कायिक जीवों की हिंसा का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग कर देते हैं, इसलिए उनके सर्व प्रकारकी द्रव्यहिंसा दूर हो जाती है। तथा राग, द्वेष आदि विकार भावों के निवारण कर देनेसे उनके भावहिंसा भी नहीं होती। इस प्रकार वे पूर्ण अहिंसा महाव्रतका पालन करते हैं। उन मुनिराजोंके वचन लेशमात्र भी असत्य नहीं होते हैं, इसलिए वे परिपूर्ण सत्यमहाव्रतके धारक होते हैं। वे विना दिए जल और मिट्टी तक को ग्रहण नहीं करते हैं, अतएव निर्दोष अचौर्यमहाव्रतका पालन करते हैं। वे अठारह हजार शीलके भेदोंको धारण करके सदा चैतन्य

ब्रह्ममें रमण करते हैं और इस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य महाव्रतका परिपालन करते हैं।

विशेषार्थ—साधुगण हिंसा आदि पांचों पापोंके सर्वथा—स्थूल और सूक्ष्मरूपसे त्यागी होते हैं, अतएव वे निर्दोष पांच महाव्रतोंका परिपालन आजन्म करते हैं। इस छंदमें प्रारम्भके चार महाव्रतोंका वर्णन किया गया है, जिनमें तीन महाव्रतोंका स्वरूप सुगम है। ब्रह्मचर्य महाव्रतका स्वरूप बतलाते हुए शीलके जिन १८००० अठारह हजार भेदोंका उल्लेख किया गया है, वे इस प्रकारसे जानना चाहिए—

स्त्रियां दो प्रकार की होती हैं चेतन स्त्री और अचेतन स्त्री चेतन स्त्री भी तीन प्रकारकी होती हैं—देवांगना, मानुषी और तिरश्ची। इन तीनोंका मन, वचन कायसे गुणन करने पर (३×३=९) नौ भेद हुए। इन नवों भेदोंका कृत, कारित और अनुमोदनासे गुणन करने पर (९×३=२७) सत्ताईस भेद हुए। इनको पांच द्रव्येन्द्रिय और पांच भावेन्द्रियोंसे गुणन करने पर (२७×५×५=२७०) दो सौ सत्तर भेद होते हैं। इन्हें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंसे गुणन करने पर (२७०×४=१०८०) एक हजार अस्सी भेद होते हैं। इन्हें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्याना-वरण और संज्वलनक्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायों से गुणा करने पर (१०८०×१६=१७२८०) सत्तरह हजार दो सौ अस्सी भेद चेतन स्त्री सम्बन्धी होते हैं। अचेतन स्त्री

भी तीन प्रकार की होती है—काष्ठकी, पाषाणकी और चित्राम की। इनको मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनसे गुणा करने पर (३ × ६ = १८) अठारह भेद होते हैं। इन्हें पांच द्रव्येन्द्रिय और पांच भावेन्द्रियसे गुणा करने पर (१८ × १० = १८०) एक सौ अस्सी भेद होते हैं। उन्हें क्रोध, मान, माया और लोभसे गुणा करने पर (१८० × ४ = ७२०) सातसौ बीस हुए। उक्त दोनों प्रकारके भेदोंको जोड़ देने पर (१७२८०+७२० = १८०००) पूरे अठारह हजार भेद हो जाते हैं। साधु गण उक्त अठारह हजार प्रकारसे सर्व प्रकारकी स्त्रियोंके त्यागी होते हैं अतएव वे अठारह हजार शीलके धारक कहलाते हैं।

अब आगे ग्रन्थकार पांचवे महाव्रत और पांच समितियोंका वर्णन करते हैं :—

अन्तर चतुर्दस भेद बाहर संग दशधातैं टलैं,
परमाद तजि चौकर मही लखि समिति ईर्यातैं चलैं।
जग-सुहितकर, सब अहितहर, श्रुति-सुखद सबसंशय हरैं,
भ्रम रोग-हर, जिनके वचन-मुख-चद्रतैं अमृत झरैं ॥२॥
छ्यालीस दोष बिना सुकुल श्रावक तनै घर असन को,
लैं तप बढ़ावन हेतु नहिं तन पोषते तजि रसनि को।
शुचि ज्ञान संयम उपकरण लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं,
निर्जन्तु थान विलोकि तन-मलमूत्र श्लेष्म परिहरैं ॥३॥

अर्थ—वे मुनिराज चौदह प्रकारके अन्तरंग और दश प्रकारके बहिरंग परिग्रहसे दूर रहते हैं अतः अपरिग्रहमहाव्रतके धारी होते हैं। इस प्रकार पांच महाव्रतोंका वर्णन हुआ। अब पांच समितियों का वर्णन करते हैं :—

वे मुनिराज प्रमादको छोड़कर चार हाथ भूमिको देख-शोधकर चलते हैं सो यह ईर्यासमिति है। उन मुनिराजोंके मुखरूपी चन्द्रसे समस्त जगत्का सच्चा हित करनेवाले, कानोंको सुख-दायक सब प्रकारके संशयोंके नाशक और भ्रमरूपी रोगके हरण करने वाले अमृतके समान वचन निकलते हैं। इस प्रकार वचनकी सावधानी को भाषा समिति कहते हैं। वीतरागी साधु उत्तम कुल वाले श्रावकके घर भोजन सम्बन्धी छयालीस दोषोंको टालकर तपको बढ़ानेके लिये रस आदिको छोड़कर आहार लेते हैं, शरीर पुष्ट करनेके लिए आहार नहीं लेते हैं। यह एषणा समिति है। वे साधु शौचके उपकरण कमंडलुको, ज्ञानके उपकरण शास्त्रको और संयमके उपकरण पीछीको देख-शोधकर ग्रहण करते हैं और देख शोधकर ही रखते हैं, यह आदान निक्षेपण समिति है। जीव-रहित प्रासुक स्थान को देखकर शरीरका मल, मूत्र,कफ आदि छोड़ते हैं, यह पांचवी व्युत्सर्ग समिति है।

अब आगे ग्रन्थकार तीन गुप्ति और पंचेन्द्रिय-विजयका वर्णन करते हैं:—

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय आतम ध्यावते,
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।

रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने,
तिनमें न राग विरोध पंचेन्द्रिय-जयन पद पावने ॥४॥

अर्थ—वे मुनिराज अपने मन वचन और कायको भली प्रकार निरोध करके सुस्थिर हो इस प्रकार आत्माका ध्यान करते हैं कि जंगलके हरिण उनकी सुस्थिर, अचल, शान्त मुद्राको देख कर और उन्हें पाषाण की मूर्ति समझ कर अपने शरीरकी खाज खुजलाते हैं। यह तीन गुप्तियोंका वर्णन हुआ। पाँचों इंद्रियोंके विषयभूत स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द यदि शुभ प्राप्त हों, तो वे उनमें रमा नहीं करते और यदि अशुभ प्राप्त हों, तो वे उनमें विरोध या द्वेष नहीं करते और इस प्रकार वे पंचेन्द्रिय-विजयी पदको प्राप्त करते हैं।

अब छह आवश्यक और शेष सात मूल गुणोंका वर्णन करते हैं:—

समता सम्हारैं थुति उचारैं बन्दना जिनदेवको,
नित करैं श्रुत-रति, करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।
जिनके न न्हौन, न दन्त-धोवन, लेशअम्बर आवरन,
भूमाँहि पिछली रयनमें कछु शयन एकाशन करन ॥५॥

इक बार दिनमें लें अहार खड़े अलप निज पानमें,
कचलोंच करत न डरत परिषह सो, लगे निज ध्यानमें।

अरि मित्र महल मसान कंचन कांच निन्दन थुतिकरन,
अर्धावतारन असि-प्रहारनमें सदा समता धरन ॥६॥

अर्थ—वे मुनिराज सदा समता भावको संभालते हैं, स्तुतिका उच्चारण करते हैं और जिन-देवकी वन्दना करते हैं। नित्य ही शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं और अपने शरीरसे ममता त्यागकर कायोत्सर्ग करते हैं। इस प्रकार वे प्रतिदिन छह आवश्यकों का नियमपूर्वक पालन करते हैं। वे स्नान नहीं करते, दांतुन नहीं करते, लेशमात्र भी वस्त्रका आवरण नहीं रखते। पिछली रात्रिमें भूमिके ऊपर एक ही आसनसे कुछ थोड़ासा शयन करते हैं। वे साधु दिनमें एकबार खड़े खड़े ही थोड़ासा अपने हाथोंमें रखा हुआ आहार ग्रहण करते हैं। केशलुञ्च करते हैं। परीषहोंसे नहीं डरते हैं और सदाकाल अपने ध्यानमें लगे रहते हैं। ऐसे मुनिराज शत्रु और मित्रमें, महल और श्मसानमें, कंचन और काँचमें, निन्दा और स्तुतिमें, अर्घ उतारनेमें तथा तलवारके प्रहारमें सदा समताभावको धारण करते हैं।

विशेषार्थ—सकल-चारित्रके धारक दिगम्बर साधुओंके अट्ठाईस मूलगुण बतलाये गये हैं, उनका ही वर्णन यहाँतक ग्रन्थकारने कियाहै। वे अट्ठाईस मूल गुण इस प्रकार हैं:—अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत, अपरिग्रहमहाव्रत, ये पाँच महाव्रत हैं। ईर्यासमिति, भाषा

समिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और व्युत्सर्ग-समिति ये पाँच समिति हैं। पाँचों इन्द्रियोंके क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये पाँच विषय हैं। इन पाँचों विषयोंके अनिष्ट या अशुभ रूप मिलने पर उनमें द्वेष नहीं करना और इष्ट या शुभ रूप मिलने राग नहीं करना सो पंचेन्द्रिय-विजय नाम के पाँच मूलगुण कहलाते हैं। इन पन्द्रह गुणोंके अतिरिक्त साधुओंको छह आवश्यक प्रति-दिन करने पड़ते हैं। वे इस प्रकार हैं:—सामायिक-प्राणिमात्रपर समताभाव रखना, सुख-दुःख देने वाले शत्रु-मित्र पर, महल-मसान पर, कञ्चन-काँच पर, निन्दा-स्तुतिमें सम भाव रखना सो सामायिक नामका प्रथम आवश्यक है। चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करना सो चतुर्विंशति-स्तवन नामक दूसरा आवश्यक है। किसी एक तीर्थंकर की स्तुति करना सो बन्दना नामका तीसरा आवश्यक है। शास्त्रोंका अभ्यास करना, पढ़ना, पढ़ाना बाँच कर दूसरोंको सुनाना सो स्वाध्याय नामका चौथा आवश्यक है। लगे हुए दोषोंकी शुद्धिके लिए गुरुके समीप जाकर, या उनके अभावमें परोक्ष रूपसे अपने अपराधोंकी क्षमा-याचना करना, उनके लिये खेद प्रगट करना सो प्रतिक्रमण नामका पाँचवाँ आवश्यक है। अपने शरीर तकसे अहंभाव या ममता छोड़ना सो कायोत्सर्ग नामका छठा आवश्यक है। साधुओंको यह छह कार्य प्रति-दिन करना अत्यन्त जरूरी बतलाया गया है, इसीलिये इन्हें षट् आवश्यक कहते हैं। इस प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-

विजय और षट् आवश्यक ये सब मिल कर २१ मूल गुण होते हैं। अब शेष रहे सात मूलगुणोंको कहते हैं:—

१–दीक्षा लेनेके बाद जीवन-पर्यन्त जलकायिक जीवोंकी रक्षार्थ स्नान नहीं करना, २–दांतोंको मञ्जन, दातुन आदिसे सौन्दर्यकी रक्षाके लिए नहीं धोना, ३–शरीरकी शीत आदिसे रक्षाके लिए लेशमात्र भी वस्त्र आदि नहीं रखना किन्तु सदा दिगम्बर वेष रखना, ४–रात्रिके पिछले भागमें एक ही करवटसे जमीनपर अल्प—एक मुहूर्त्त प्रमाणकी निद्रा लेना, ५–दिनमें एक बार अल्प आहार लेना, ६–खड़े खड़े आहार लेना और ७ शिर वा दाढ़ीके बालोंका अपने हाथोंसे लोंच करना। इस प्रकार सब मिलाकर साधुके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं जिनका पालन करना प्रत्येक दिगम्बर साधुके लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया है। उक्त गुणोंमेंसे एक भी गुणकी कमी होनेपर साधु अपने साधुपनसे गिरा हुआ माना जाता है। इन अट्ठाईस मूलगुणोंका वर्णन करते हुए ग्रन्थकारने पांच समितियोंके पश्चात् तीन गुप्तियोंका और भी वर्णन किया है, उसका अभिप्राय यह है कि कुछ आचार्योंने सकल चारित्रके तेरह भेद किये हैं, जिसमें पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति, इन तेरहका पालन सकलसंयमीके लिए अत्यावश्यक बतलाया गया है। मनकी चञ्चलताको रोककर उसे स्थिर करना मनोगुप्ति है। वचनकी समस्त शुभ-अशुभ प्रवृत्तिको रोककर निर्दोष मौन-धारण करना सो वचनगुप्ति है। शरीरकी गमनागमन, हलन-चलनादि

समस्त प्रवृत्तिको रोककर किसी एक आसनसे स्थिर रहना सो कायगुप्ति है। इस प्रकार मन, वचन और कायकी समस्त प्रवृत्तियां ध्यान अवस्थामें ही एक अन्तर्मुहूर्त्तमात्रके लिए रोकी जा सकती हैं, अतएव ग्रन्थकारने बड़े सुन्दर शब्दोंमें उसी ध्यान-अवस्थाका वर्णन करते हुए कहा है कि ध्यान-अवस्थामें साधु अपने मन, वचन, कायकी क्रियाओंको रोककर इस प्रकार सुस्थिर हो जाते हैं कि हरिण आदि जंगली जानवर उन्हें पाषाणकी मूर्ति समझकर उनसे अपने शरीरकी खुजलीको खुजलाने लगते हैं। साधुओंकी ऐसी शान्त और स्थिर दशा सचमुच प्रशंसनीय एवं वन्दनीय है।

सकलचारित्रके धारक मुनियोंके तीन भेद होते हैं—आचार्य उपाध्याय और साधु। ऊपर जो अट्ठाईस मूलगुण बताये गये हैं, उनका पालन तीनों ही परमेष्ठियोंको अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त उपाध्यायको पच्चीस मूलगुण और आचार्यको छत्तीस मूलगुण और भी अधिक धारण करने पड़ते हैं, जिनका ग्रन्थकारने प्रस्तुत प्रकरणमें वर्णन नहीं किया है सो अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिए। किन्तु आचार्यपरमेष्ठीके छत्तीस मूलगुणोंमें जो बारह तप और दश धर्मोंका समावेश है, उनका धारण करना भी प्रत्येक साधुके लिए अत्यावश्यक माना गया है, अतएव ग्रन्थकार उसका वर्णन आगे पद्य द्वारा करते हैं, क्योंकि उसके बिना सकलसंयम अधूरा ही रह जाता है।

तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रत्नत्रय सेवैं सदा,
मुनि साथमें वा एक विचरैं, चहैं नहिं भवसुख कदा।
यों है सकल-संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब,
जिस होत प्रकटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृति सब ॥७॥

अर्थ—सकल संयमके धारण करने वाले साधुगण बारह प्रकारके तपको तपते हैं, दशप्रकार धर्मको धारण करते हैं और सदाकाल रत्नयत्रका सेवन-आराधन करते हैं। वे साधुगण संघके साथमें विहार करते हैं और वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध या संयम विशेषके धारक हो जाने पर कदाचित् अकेले भी विहार करते हैं। ये दिगम्बर मुद्राके धारक साधु कभी भी सांसारिक सुखकी वांछा नहीं करते हैं। इस प्रकार यहां तक सकलसंयम चारित्रका वर्णन किया। अब आगे स्वरूपाचरण चारित्रका वर्णन करते हैं, जिसके होनेसे अपने आत्माकी निधि प्रगट होती है और परकी-पुद्गलकी और उसके निमित्तसे उत्पन्न होने वाली सर्व प्रवृत्ति मिट जाती है।

विशेषार्थ—बारह तपोंका स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए:—
अनशन—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकारके आहारका त्यागकर उपवास, वेला, तेला आदि रूपसे उपवास करने को अनशनतप कहते हैं। प्रमाद और आलस्यके जीतनेके लिए भूखसे कम खानेको अवमौदर्य तप कहते हैं। गोचरीको

जाते समय गली घर वगैरहकी मर्यादा करनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं। घी, दूध, दही आदि पुष्टिकारक रसोंके त्याग करनेको रसपरित्याग तप कहते हैं। शून्य भवन, निर्जनवन आदि एकान्त स्थानमें सोना, उठना, बैठना सो विविक्तशय्यासन तप है गर्मीके समय पर्वतकी शिखर पर वर्षाके समय वृक्षके मूलमें और शीत कालमें चौराहे पर ध्यान लगाना, रात्रिको प्रतिमा योग इत्यादि धारण करना सो कायक्लेश तप है। ये छह बहिरंग तप कहलाते हैं, क्योंकि इनका संबन्ध बाहरी द्रव्य खान-पान, शयन आसन आदिसे रहता है। संयमकी सिद्धि, ध्यान-अध्ययनकी सिद्धि, राग भाव की शान्ति, इन्द्रिय-दर्प निग्रह, निद्रा-विजय, ब्रह्मचर्य-परिपालन, सन्तोष और प्रशम भावकी प्राप्ति तथा कर्मोंकी निर्जराके लिए उक्त छहों तपोंको धारण करना साधुओंका परम कर्तव्य माना गया है। अब अन्तरंग छह तपोंका वर्णन करते हैं:—प्रमादसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना प्रायश्चित्त तप है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में तथा इनके धारक पूज्य पुरुषोंमें आदर भाव रखना सो विनय तप है। आचार्य, उपाध्याय, रोगी साधु आदिकी सेवा टहल आदि करना सो वैयावृत्यतप है। शास्त्रोंका अभ्यास करना, नवीन ज्ञानोपार्जनकी भावना रखना और आलस्यका त्याग करना सो स्वाध्याय तप है। पर-वस्तुओंमें अहंकार और ममकारका त्याग करना सो व्युत्सर्ग तप है। मनकी चंचलता, व्याकुलताको दूर कर उसे स्थिर करना सो ध्यान

तप है। ये छह अन्तरंग तप कहलाते हैं, क्योंकि, प्रथम तो इनके लिए किसी बाहरी द्रव्यकी आवश्यकता नहीं होती है। दूसरे अन्तरंग जो मन है, उसके नियमनके लिए ही उक्त सर्व तपोंका आचरण किया जाता है। इन अन्तरंग तपोंकी सिद्धिके द्वारा ही मनुष्य मुक्ति-लाभ करता है और प्रति समय असंख्यात-गुणित श्रेणीके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करता है। संचित कर्मोंके नाशके लिए तपके सिवाय अन्य कोई समर्थ नहीं है,अतएव मुमुक्षु जनोंको शक्तिके अनुसार अवश्य तपश्चरण करना चाहिए।

अब दश धर्मोंका वर्णन किया जाता है:—दुष्ट जनोंके द्वारा आक्रोश, हंसी, गाली आदि दिये जाने पर, और मारन ताड़न किये जाने पर भी मनमें विकार भावका न होने देना सो उत्तम क्षमाधर्म है। जाति, कुल, धन, बलवीर्य, ज्ञान आदिका अहंकार नहीं करना सो मार्दवधर्म है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको सरल रखना, मायाचारका सर्वथा त्याग करना सो आर्जवधर्म है। सदा सत्य वचन बोलना सो सत्यधर्म है। लोभकषायका सर्वथा त्याग करना सो शौचधर्म है। इन्द्रियोंके विषयों को वशमें रखना और छह कायके जीवोंकी दया पालना सो संयम धर्म है। पूर्वोक्त बारह प्रकारके तपोंको तपना सो तपो धर्म है। साधुओंके संयमकी रक्षार्थ, प्रासुक आहार, औषधि, शास्त्र, वसतिका वगैरहका दान देना सो त्याग धर्म है। शरीर आदिसे ममत्वका त्याग करना सो आकिंचन्य धर्म

है । स्त्री मात्रका मन, वचन कायसे त्याग करना, पूर्वमें भोगे भोगों का स्मरण तक भी नहीं करना और शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्ममें विचरण करना सो ब्रह्मचर्य नामका दशवां धर्म है । आत्माके परम शत्रु विषय और कषाय हैं । इनमेंसे कषायोंके जीतनेके लिए प्रारंभके पांच धर्मोंका, और इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिको रोकनेके लिए अन्तके पांच धर्मोंका उपदेश दिया गया है ।

इस प्रकार मुनियोंके सकल चारित्रका वर्णन किया । अब स्वरूपाचरण चारित्रका वर्णन करते हैं। आत्माके शुद्ध, निर्विकार सच्चिदानन्द स्वरूपमें विचरने को स्वरूपाचरण कहते हैं । वह स्वरूपाचरण चारित्र किस प्रकार प्रगट होता है, यह बतलानेके लिए ग्रन्थकार उत्तर पद्यको कहते हैं:—

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डारि अन्तर भेदिया,
वरणादि अरु रागादितें निज भाव को न्यारा किया ।
निज मांहि निज के हेतु निजकर आपको आपै गह्यो,
गुण गुणी, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मंझार कछु भेद न रह्यो ॥८॥

अर्थ—जब ध्यानकी अवस्थामें साधु अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाली सुबुद्धि (भेदविज्ञान) रूपी छैनीको अपने भीतर डालकर अनादि कालसे लगे हुए परके सम्बन्धको छिन्न-भिन्न कर कर देते हैं और पुद्गलके गुण रूप, रस, गंध, स्पर्शसे तथा राग, द्वेष आदि विकारी भावोंसे निज-आत्मिक भावको पृथक्

कर देते हैं, उस समय वे अपने आत्मामें, अपने आत्माके लिए, आत्माके द्वारा, आत्माको अपने आप ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् जान लेते हैं, तब उस ध्यानकी निश्चय दशामें गुण-गुणी, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके भीतर कुछ भी भेद नहीं रहता है, किन्तु एक अभेद रूप दशा प्रगट हो जाती है।

भावार्थ—जिस समय कोई साधक ध्यानका अवलम्बन लेकर भेद-विज्ञानके द्वारा अनादि कालसे लगे हुए द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे अपने आपको भिन्न समझ लेता है, उस समय वह अपनी आत्माको परकी अपेक्षाके विना स्वयं ही जान लेता है और उसे जानकर उसमें इस प्रकार तल्लीन हो जाता कि 'ये ज्ञानादिक गुण हैं' और मैं इनका धारण करने वाला गुणी हूँ, यह ज्ञान है, इसके द्वारा मैं इन ज्ञेय-पदार्थोंको जानता हूँ इस प्रकारके ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका कोई भेद नहीं रहता किन्तु एक अभिन्न दशा प्रकट हो जाती है, जो कि स्वयं ही अनुभवगम्य है।

आगे इसी स्वरूपाचरणरूप ध्यान—अवस्थाका और भी वर्णन करते हैं:—

जहं ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प वच भेद न जहां,
चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहां।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा,
प्रगटी जहां दृग-ज्ञान-व्रत ये तीनधा एकै लसा॥९॥

अर्थ—जिस ध्यानकी अवस्थामें ध्याता (ध्यान करने वाला) ध्येय (ध्यान करने योग्य वस्तु) और ध्यान का भेद-विकल्प नहीं रहता है, उस समयकी सर्व क्रिया वचन-अगोचर हो जाती है। उसी समय आत्माका चैतन्य भाव ही कर्म, चैतन्य ब्रह्म ही कर्ता और चेतना ही क्रिया बन जाती है अर्थात् जिस समय ध्याता, ध्यान ध्येय, तथा कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनों भिन्न भिन्न नहीं रह जाते, किन्तु अभिन्न (एक) अखिन्न (खंड रहित) एक मात्र शुद्धोपयोगकी निश्चल दशा प्रगट हो जाती है, उस समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों ही एक स्वरूप प्रतिभासित होने लगते हैं।

परमाण नय निक्षेपको न उद्योत अनुभवमें दिखै,
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आन भाव मो विखैं।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक कर्म अरु तसु फलनतैं,
चित-पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितैं ॥१०॥

अर्थ—उस ध्यानकी अवस्थामें प्रमाण, नय और निक्षेपका भिन्न-भिन्न प्रकाश अनुभवमें नहीं दिखलाई पड़ता है। किन्तु सदाकाल मैं दर्शन, ज्ञान, सुख, बलवीर्यमय हूँ, अन्य रागादि भाव मेरेमें नहीं हैं, यही प्रतिभासित होता है। मैं ही साध्य हूँ और मैं ही साधक हूँ। कर्म और कर्मोंके फलसे अबाधित हूँ। मैं चैतन्य पिंड हूँ, प्रचंड ज्ञान ज्योतिका धारक हूँ, अखंड हूँ, उत्तम-उत्तम गुणोंका भण्डार हूँ और सर्व प्रकारके पापोंसे रहित हूँ अर्थात मैं निर्मल, शुद्ध, बुद्ध सच्चिदानन्दमय हूँ।

अब उक्त-ध्यान-अवस्थाका माहात्म्य बतलाते हैं:—

यों चिन्त्य निजमें थिर भये तिन अकथ जो आनन्द लह्यो,
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहिमिन्द्रकैं नाहीं कह्यो।
तबही शुकल ध्यानाग्नि-कर चउघाति विधि कानन दह्यो,
सब लख्यो केवलज्ञानकरि भविलोकको शिवमग कह्यो ।११।

अर्थ—इस प्रकार ध्यान अवस्थामें चिन्तवन करते हुए जब मुनिराज अपनी आत्मामें स्थिर हो जाते हैं, उस समय उनको जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है, वह इन्द्र, नागेन्द्र, और अहिमिन्द्र तकको भी नहीं प्राप्त होता है,। इसी ध्यानकी अवस्थामें साधुजन शुक्लध्यानरूपी अग्निसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मरूपी कानन (जंगल) को जला देते हैं, उसी समय उनके केवल ज्ञान प्रगट होता है, जिसके द्वारा वे त्रैलोक्य और त्रिकालकी समस्त वस्तुओंको प्रत्यक्ष देखने लगते हैं और फिर भव्यजीवोंके हितार्थ मोक्ष-मार्गका उपदेश करते हैं।

इस प्रकार अरहंत अवस्था प्राप्त करनेके पश्चात् वे सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं, इस बातका वर्णन करते हैं:—

पुनि घाति शेष अघाति विधि छिन माँहि अष्टम भू वसैं,
वसु कर्म विनसै सुगुण वसु सम्यक्त्व आदिक सब लसैं।

संसार खार अपार पारावार तरि तीरहिं गए,
अविकार अकल अरूप शुचि चिद्रूप अविनाशी भए ।१२।

अर्थ—अरहंत अवस्थामें विहार करते हुये धर्मोपदेश देकर आयुके अन्त समयमें योग निरोध कर शेष चार अघातिया कर्मोंका भी घात कर एक समयमें ईषत्प्राग्भार नामकी आठवीं पृथ्वी है, उसके ऊपर स्थित सिद्धालयमें जा विराजमान होते हैं। इन सिद्धोंके आठ कर्मोंके विनाशसे सम्यक्त्व आदिक आठ गुण प्रगट होते हैं। ऐसे मुक्त हुए जीव संसार रूपी खारे और अगाध समुद्रको तैरकर उसके पारको प्राप्त हुये, और अब वे सर्व प्रकारके विकारोंसे रहित, शरीर-रहित, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श रहित, निर्मल, चिदानन्दमय अविनाशी सिद्ध दशाको प्राप्त हो गये हैं।

विशेषार्थ—चार घातिया कर्मोंके नाश करनेसे अरहन्त अवस्था प्रगट हो जाती है उस समय उनके अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय प्राप्त हो जाते हैं। तदनन्तर शेष चार अघातिय-कर्मोंके नाशसे उनके सिद्ध अवस्था प्रगट होती है, उस समय उनके चार गुण और भी प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार सिद्धके आठ कर्मोंके नाशसे आठ महागुण प्रगट होते हैं। किस कर्मके नाशसे कौनसा गुण प्रगट होता है, इसकी तालिका इस प्रकार है:—

१ ज्ञानावरण कर्मके नाशसे अनन्त ज्ञान,

२ दर्शनावरण	कर्मके क्षय होनेसे		अनन्तदर्शन,
३ वेदनीय	”	”	अव्याबाध गुण
४ मोहनीय	”	”	क्षायिक सम्यक्त्व
५ आयु	”	”	अवगाहन गुण
६ नाम	”	”	सूक्ष्मत्वगुण
७ गोत्र	”	”	अगुरुलघुगुण
८ अन्तराय	”	”	अनन्तवीर्य

यहाँ इतनी बात विशेष जाननी चाहिए कि अनन्त चतुष्टयमें जो अनन्त सुख नामका एक गुण गिनाया गया है, वह भी मोह कर्म के नाशसे प्रगट होता है। कुछ आचार्य सिद्धोंके आठ गुणोंमें क्षायिक सम्यक्त्वको गिनते हैं और कुछ आचार्य अनन्त सुखको। सो इसमें कोई भेद नहीं जानना चाहिए, क्योंकि मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय। इनमेंसे दर्शन मोहनीय कर्मके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है और चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयसे अनन्त सुख प्रगट होता है। विभिन्न आचार्योंने सिद्धोंके आठ गुण गिनाते हुए मोहकर्मके नाशसे उत्पन्न होने वाले दो गुणोंमें से किसी एक गुणको बतलाया है, सो यह अपनी अपनी विवक्षा है।

अब ग्रन्थकार सिद्ध अवस्थाका वर्णन करते हैं:—

निज माँहि लोक अलोक गुण पर्याय प्रतिबिम्बित थये,
रहि हैं अनन्तानन्त काल यथा तथा शिव परनये।
धनि धन्य हैं जे जीव नरभव पाय यह कारज किया,
तिन हीं अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया।१३।

सिद्ध अवस्थामें अपनी आत्माके भीतर ही लोकाकाश, अलोकाकाश, समस्त द्रव्योंके अनन्त गुण और पर्याय एक साथ प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। मुक्त जीव जिस प्रकार सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार आगे अनन्तानन्त काल तक मोक्षमें रहेंगे, उनमें कभी रंचमात्र परिवर्तन नहीं होगा। जिन जीवोंने नर-भव पाकर मोक्ष प्राप्त करनेका महान् कार्य किया, वे धन्य हैं, धन्य हैं। और, उन्होंने ही अनादि कालसे संसारमें परि-भ्रमण कराने वाले पंच परावर्तनों को त्याग करके मोक्षका उत्तम सुख प्राप्त किया है।

विशेषार्थ—जिस आकार-प्रकार और रूपमें सिद्ध-अवस्था प्राप्त होती है, उसी आकार-प्रकार और रूपमें वे अनन्तानन्तकाल तक ज्योंके त्यों सचराचर विश्वको जानते देखते हुए विराजमान रहते हैं। सिद्ध जीव कभी भी संसारमें लौटकर नहीं आते ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आनन्द सर्व लोकातिशायी, मर्यादा-तीत और अनुपम होता है। वे सदाके लिए जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय आदि सांसारिक झंझटोंसे मुक्त हो जाते हैं।

संसारमें अगणित कल्पकालोंके व्यतीत हो जाने पर भी सिद्ध जीवोंके कभी कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। संसारमें त्रैलोक्य को चलायमान कर देने वाला भी यदि उत्पात हो जाय, तो भी मोक्षमें कभी कोई अव्यवस्था नहीं होती है। किन्तु सिद्ध जीव सदा काल किट्टिमा-कालिमासे रहित तपाये हुए सुवर्णके समान प्रकाशमान स्वरूपसे विद्यमान रहते है। और अनन्त आनन्दामृतका पान करते हुए संसारका नाटक देखा करते हैं।

अब ग्रन्थकार रत्नत्रयका फल बतलाते हुए आत्म-हितमें प्रवृत्तिका उपदेश देते हैं:—

मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं,
अरु धरैंगे ते शिव लहैं तिन सुयश जल जग-मल हरैं।
इमि जानि, आलस हानि, साहस ठानि, यह सिख आदरौ,
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ।१४।

अर्थ—जो भाग्यशाली जीव पूर्वोक्त प्रकारसे निश्चय और व्यवहार रूप दो प्रकारके रत्नत्रयको धारण करते हैं, तथा आगे धारण करेंगे, वे जीव नियमसे मोक्षको प्राप्त करेंगे। उनका सुयश रूपी जल जगतके पापरूपी मलको हरता है। ऐसा जान कर आलसको दूर कर और साहसको ठान कर इस शिक्षाको धारण करो कि जब तक शरीरको कोई रोग न घेरे, बुढ़ापा आकर न सतावे, तब तक शीघ्र ही अपना हित करलो।

अन्तमें ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ को समाप्त करते हुए भव्य-जनोंसे एक मर्मिक अपील करते हैं:—

यह राग-आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये,
चिर भजे विषय कषाय, अबतो त्याग निज-पद वेइये।
कहा रच्यौ पर-पदमें, न तेरो पद यहै, क्यों दुख सहै,
अब 'दौल' होउ सुखी स्वपद-रचि, दाव मति चूकौ यहै।१५।

अर्थ—यह विषयतृष्णारूपी रागाग्नि अनादिकालसे निरन्तर तुझे और संसारी जीवोंको जला रही है, इसलिए समतारूपी अमृतका सेवन करना चाहिए। विषय-कषायोंको तूने चिरकालसे सेवन किया है, अबतो उनका त्याग करके निज पदको पानेका प्रयत्न करना चाहिए। तू पर-पदमें क्यों आसक्त हो रहा है? यह पर-पद तेरा नहीं है, क्यों व्यर्थमें इसके पीछे तू दुःख सह रहा है? हे दौलतराम! तू अपनी आत्माके पदमें तल्लीन होकर सुखी हो जा, इस प्राप्त हुए अवसर को मत चूक।

इस प्रकार पण्डित दौलतरामने अपने आपको सम्बोधन करनेके बहाने संसारके भव्य जीवोंको सावधान किया है कि नर भव पानेका ऐसा सुयोग बार-बार प्राप्त नहीं होता। तू चाहे कि मैं विषय-तृष्णाको पूरा करलूं, फिर आत्मकार्यमें लगूंगा, सो यह त्रिकालमें भी पूरी होने वाली नहीं है, उसकी पूर्तिका तो एक मात्र उपाय सन्तोष रूप अमृतका पान करना है, सो तू

पूर्व पुण्यके उदयसे प्राप्त हुए वैभवमें सन्तोष कर और विषय-कषायोंकी प्रवृत्तिको छोड़ कर आत्म-हितमें लग जा। जिन पर-पदार्थोंमें तू आसक्त हो रहा है, जिन पदोंके पानेके लिए तू रात-दिन एक कर रहा है, वे तेरे आत्माके पद नहीं हैं; उनके प्राप्त कर लेने पर भी तुझे शान्ति प्राप्त न होगी; अतएव उनको पानेकी आशा छोड़ कर आत्म-प्राप्तिके मार्गमें लग जा, जिससे कि तू अक्षय अनन्त सुखका धनी बन सके। मुक्ति पानेका अवसर बार-बार हाथ नहीं आता, अतएव इस दावको मत चूक, इसमें तेरा कल्याण है।

अब ग्रन्थकार ग्रन्थ-निर्माण का समय और आधार बतलाते हुए अपनी लघुता प्रगट करते हैं:—

इक नव वसु इक वर्षकी, तीज सुकल वैसाख।
कर्यो तत्व-उपदेश यह, लखि बुधजनकी भाख ॥१॥
लघुधी तथा प्रमादतें, शब्द, अर्थकी भूल।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पावो भव-कूल ॥२॥

अर्थ—विक्रम संवत् १८६१ के वैशाख शुक्ला तृतीयाके दिन बुधजनकृत छहढालाका आश्रय लेकर मैंने यह तत्वोंका उपदेश करने वाला तत्वोपदेश या छहढाला नामका ग्रन्थ बनाया है। इसमें मेरी अल्प बुद्धिसे, या प्रमादसे कहीं शब्द या अर्थकी भूल

रह गई हो, तो बुद्धिमान लोग उसे सुधार कर पढ़ें, जिससे कि वे संसारका किनारा शीघ्र प्राप्त कर सकें।

इस प्रकार मुनिधर्मका वर्णन करने वाली छठीढाल समाप्त हुई।

समाप्त

भा० दि० जैन संघ
मथुरा